अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका – अगस्त २०१७

भागवत अनुकम्पा

विषय-सूची

(श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय		३
भागवत अनुकम्पा		५
कृपा के उपहार		२८
हमेशा दूसरों का ध्यान रखने वाले गुरु		३५
'पुरोधा' : दैनन्दिनी		४०
श्रीमाँ के साथ पत्र-व्यवहार	'श्रीमातृवाणी' से	४३
बच्चे मन के सच्चे	कनिष्ठा	४७
बैसाख-जेठ का ख़ास फल आम	ऊर्मि कृष्ण	४८
जितने दिन ज़िन्दा रहूँ, कुछ सीखता रहूँ	'हिन्दू सभा-वार्ता' से	५१
बच्चा और भगवान् (कविता)	पुष्पारानी गर्ग	५३
उषा से पहले का अन्धकार	श्रीअरविन्द	५४
सर्वकरुणामयी दृष्टि	वन्दना	५५
ए.जी.एम की सूचना		५८

मुखपृष्ठ के पुष्प का श्रीमाँ द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ

श्रीअरविन्द की अनुकम्पा

अगणित, हमेशा उपस्थित, तथा हर क्षण प्रभावकारी होती है।

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष–१८०रु.; तीन वर्ष–५२०रु.; पाँच वर्ष ८६०रु.।

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

Website : www.aurosociety.org

सम्पादिका : वन्दना

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

सन्देश

... प्रकाश आ गया है, रास्ता खुल गया है; श्रमसाध्य अतीत को कृतज्ञतापूर्ण नमन अर्पित कर हम तेज़ी से उस नये मार्ग पर बढ़ेंगे जिसे तूने हमारे आगे विस्तृत रूप से खोल दिया है।

हे प्रभो, एक अधिक विस्तृत और अधिक सचेतन उपलब्धि के इस नये क्षेत्र की देहली पर हम तेरे आगे सम्पूर्ण समर्पण और आराधना के साथ नमन करते हैं। हम अपने-आपको बिना किसी शर्त या प्रतिबन्ध के तुझे अर्पित करते हैं।

फिर एक बार तू ही हमारे अन्दर निवास करता है, और केवल तू ही। तू फिर से अपने राज्य का राजा बन गया है, लेकिन ऐसे राज्य का जो अधिक विस्तृत, अधिक पूर्ण और तेरे शासन के अधिक योग्य है।

—श्रीमाँ

सम्पादकीय : भगवती माँ हमें हमेशा श्रीअरविन्द की करुणा की याद दिलाती हैं। वस्तुतः, जिन असंख्य गुणों का श्रीअरविन्द मूर्त रूप हैं उनमें से एक गुण—उनकी अनुकम्पा—अद्वितीय, अनुपम है। अनुपम इसलिए कि वह उनकी सभी कृतियों, सभी कार्यों के पीछे चुपचाप आधारशिला के रूप में स्थित है, और साथ ही यह वह सबसे प्रत्यक्ष गुण है जिसके लिए श्रीअरविन्द ने स्वयं को अन्धकार में झोंक दिया ताकि वे धरती तथा मानव के लिए 'प्रकाश' तथा 'आशा' निकाल लायें।

श्रीअरविन्द के १४५वें जन्मदिवस के शुभ उपलक्ष्य में यह विशेषांक उन्हें ही समर्पित है।

करुणामय श्रीअरविन्द—
उनकी करुणा हमें उनकी सेवा करने का
सुअवसर प्रदान करती है।

२५ अप्रैल १९६१

भागवत अनुकम्पा

वैश्व विधान, करुणा तथा भागवत कृपा

मैं भागवत कृपा के विषय में कुछ कहना चाहूँगा—क्योंकि तुम ऐसा समझते प्रतीत होते हो कि उसे भागवत बुद्धि के जैसी कोई चीज़ होना चाहिये जो ऐसी पद्धतियों से कार्य करती है जो मानव-बुद्धि की पद्धतियों से बहुत भिन्न नहीं होतीं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। फिर यह वैश्व भागवत करुणा भी नहीं है जो उन सब पर निष्पक्ष-भाव से कार्य करती है जो उसके पास आते हैं और जो सब प्रकार की प्रार्थनाओं को स्वीकार करती है। यह न तो पुण्यात्माओं का वरण करती है और न ही पापियों का परित्याग। भागवत कृपा अत्याचारी तारसस के सॉल (Saul of Tarsus) की सहायता करने आयी, दुश्चरित्र सन्त ऑगस्टीन के पास आयी, लोगनिन्दित जगाई-मधाई के पास, बिल्वमंगल के पास आयी और ऐसे बहुत-से लोगों के पास आयी जिनके परिवर्तन ने मानवीय नैतिक बुद्धि के शुचितावाद को अच्छी तरह आघात पहुँचाया होगा; परन्तु वह पुण्यात्माओं के पास भी आयी—उसने उनको उनके धर्माभिमान से मुक्त किया और वह उन्हें इन चीज़ों से परे एक शुद्धतर चेतना में ले गयी। यह एक ऐसी शक्ति है जो किसी भी विधान से, यहाँ तक कि वैश्व विधान से भी श्रेष्ठ है—सभी आध्यात्मिक द्रष्टाओं ने 'विधान' और 'कृपा' के बीच विभेद किया है। फिर भी यह विवेकशून्य नहीं है—केवल इसका अपना निजी विवेक है जो वस्तुओं, व्यक्तियों और समुचित समयों तथा अनुकूल अवसरों को मन की दृष्टि या किसी दूसरी सामान्य शक्ति की दृष्टि से भिन्न दृष्टि से देखता है। व्यक्ति के अन्दर कृपा के आने की अवस्था की तैयारी बहुधा घने परदे के पीछे ऐसे उपायों से होती है जिन्हें मन द्वारा नहीं समझा जा सकता और जब कृपा के आने की अवस्था आती है तो फिर कृपा अपने-आप कार्य करती है। ये तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं : १–वैश्व विधान, कर्म का विधान या फिर और कुछ; २–भागवत करुणा जो विधान के जाल के अन्दर से जितने लोगों तक पहुँच पाती है उतने लोगों पर कार्य करती और उन्हें उनका सुअवसर प्रदान करती है; ३–भागवत कृपा जो अधिक हिसाब किये बिना कार्य करती है पर साथ ही दूसरों की अपेक्षा अधिक अदम्य रूप से

कार्य करती हैं। बस, प्रश्न यह है कि क्या जीवन की समस्त असंगतियों के पीछे कोई ऐसी चीज़ है जो पुकार का प्रत्युत्तर दे सके और चाहे जितनी कठिनाई के साथ क्यों न हो, अपने को तब तक खोले रख सके जब तक कि वह भागवत कृपा की ज्योति के लिए तैयार न हो जाये—और वह 'कोई चीज़' कोई मानसिक और प्राणिक क्रिया नहीं होनी चाहिये बल्कि आन्तरिक 'कोई चीज़' होनी चाहिये जो आन्तरिक आँख के द्वारा अच्छी तरह देखी जा सके। यदि वह चीज़ है और जब वह सम्मुख भाग में क्रियाशील होती है, तो 'करुणा' कार्य कर सकती है, यद्यपि 'कृपा' की पूर्ण क्रिया तब भी प्रतीक्षा कर सकती और सुनिश्चित निर्णय या परिवर्तन का अनुगमन कर सकती है; क्योंकि यह किसी भावी काल के लिए स्थगित हो सकती है, क्योंकि सत्ता का कोई अंश या तत्त्व अभी भी आड़े आता हो, कोई ऐसी चीज़ हो जो अभी ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत न हो।

CWSA खण्ड २९, पृ. १६८-६९ —श्रीअरविन्द

करुणा और कृपा

ओह, अभी उस दिन किसी ने मुझसे २४ नवम्बर के दर्शन के सन्देश के बारे में पूछा, ("ये तीन शक्तियाँ धरती के जीवन पर शासन करती हैं: १–वैश्व विधान, कर्म का विधान या फिर और कुछ; २–भागवत करुणा जो विधान के जाल के अन्दर से जितने लोगों तक पहुँच पाती है उतने लोगों पर कार्य करती और उन्हें उनका सुअवसर प्रदान करती है; ३–भागवत कृपा जो अधिक हिसाब किये बिना कार्य करती है पर साथ ही दूसरों की अपेक्षा अधिक अदम्य रूप से कार्य करती है"—श्रीअरविन्द) और श्रीअरविन्द ने मुझे उत्तर दिया था। वह कितना रुचिकर था! मैंने अचानक कुछ देखा। जब वे बोल रहे थे तो जो घटा वह सचमुच अद्‌भुत था। मैंने 'करुणा' और 'कृपा' को देखा, "विधान" को देखा और यह भी देखा कि 'करुणा' किस प्रकार सब पर—बिना किसी भेदभाव और बिना किसी शर्त के—सभी व्यक्तियों पर और सभी चीज़ों पर क्रिया करती है और किस भाँति वह 'परम करुणा' उन्हें उस अवस्था में ले आती है जिसमें वे भागवत 'कृपा' को ग्रहण कर सकते हैं। मुझे यह अद्‌भुत प्रतीत हुआ।

मुझे यह अनुभूति हुई: मैंने इस 'परम करुणा' को संसार के मायाजाल

में क्रिया करते देखा और अनुभव किया, और यह देखा कि किस तरह 'परम कृपा' सर्वशक्तिशालिनी है, अर्थात्, उसके सामने संसार का "विधान" बाधा के रूप में कभी नहीं ठहर सकता। मैंने इस 'करुणा' को सबका स्पर्श करते देखा और देखा कि वह 'परम करुणा' प्रत्येक को उसका अवसर प्रदान कर रही थी; तब मेरी समझ में आया कि श्रीअरविन्द के इस कथन से "वह प्रत्येक को उसका अवसर प्रदान करती है" उनका क्या आशय था—अर्थात् वह 'करुणा', वह 'कृपा' बिना किसी भेदभाव के, बिना किसी शर्त, बिना किसी पसन्द, नापसन्द के, *सभी को* समान अवसर देती है। अतः, इस 'करुणा' का परिणाम यह होता है कि वह धरतीवासियों को 'परम कृपा' के बारे में जाग्रत् कर देती है ताकि वे ठोस रूप से यह अनुभव कर सकें कि संसार में 'भागवत कृपा' के जैसी वस्तु उपस्थित है। और जो कोई उसकी अभीप्सा करे, उस पर विश्वास रखे, 'कृपा' तुरन्त उस पर क्रिया करती है—वैसे तो वह संसार में सारे समय क्रियारत रहती है, लेकिन श्रद्धा के साथ वह पूरी तरह से प्रभावकारी बन जाती है।

यह सब इतना स्पष्ट, इतना यथार्थ था! यह एक नयी अनुभूति, एक अन्तर्दर्शन की तरह था। और स्वयं श्रीअरविन्द इस 'परम करुणा' की साक्षात् अभिव्यक्ति थे... वह उनकी आँखों में देखी जा सकती थी, निस्सन्देह, उनकी आँखें 'करुणा' से भरपूर थीं। उस अन्तर्दर्शन में मैंने जाना कि सचमुच यह 'परम करुणा' क्या है...

उन्होंने कहीं और भी लिखा है : "यह बहुत ही विरल है कि 'भागवत कृपा' किसी से मुँह फेर ले, लेकिन कई उससे मुँह मोड़ लेते हैं—मनुष्य 'भागवत कृपा' से मुँह मोड़ लेते हैं।" मुझे ठीक-ठीक उनके शब्द याद नहीं हैं, लेकिन मुझे लगता है कि उन्होंने 'विकृत' शब्द का प्रयोग किया था। यह अनुभव भी एकदम जीवन्त था कि 'कृपा' मनुष्यों का साथ नहीं छोड़ रही, एकदम नहीं (वह कृपा तो हमेशा सक्रिय होती है), लेकिन मनुष्य टेढ़े-मेढ़े, विकृत होते हैं...

... मनुष्य हमेशा स्वयं अपने ऊपर ही झुका रहता है। यानी वह अपनी शक्ति और क्रिया में सीधा आगे ही आगे की ओर बढ़ने की जगह, अपने ही अहं के चारों ओर कुण्डली मारे रहता है, हर तरह के अलवेटों और मरोड़ों में फँसा रहता है और इससे उसके चारों तरफ़ के स्पन्दन भी

विकारयुक्त हो जाते हैं; मानव स्वयं ही टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता चुनता है (टेढ़ा-मेढ़ा, विकृति—ये ही शब्द मेरे मस्तिष्क में आ रहे हैं)। सीधा होने की जगह मनुष्य विकृत है। और अगर वह अपने विकार के कारण 'परम कृपा' को अपने अन्दर प्रवेश ही नहीं करने दे तो भला 'कृपा' क्या करे!! वह प्रभावकारी कैसे हो सकती है भला?

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से ७ दिसम्बर १९६६

आध्यात्मिक बल, सच्चाई और कृपा

शक्ति तथा 'कृपा' के बारे में मैं जो कह रहा हूँ उसमें समझ में न आने वाली कोई बात नहीं है। आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए शक्ति का मूल्य है, लेकिन यह कहना कि इसे और किसी तरीक़े से नहीं, केवल शक्ति के द्वारा ही पाया जा सकता है, उग्र अतिशयोक्ति है। कृपा कोई हस्तक्षेप नहीं है, वह आध्यात्मिक अनुभूति का एक तथ्य है। कई, जिन पर बुद्धिमान् और बलशाली "कुछ नहीं हैं" की मोहर लगा देते हैं वे 'कृपा' द्वारा जीवन में ऊपर उठा लिये जाते हैं; अनपढ़, मानसिक शक्ति या प्रशिक्षण से रहित, स्वभाव के "बल" या संकल्प-शक्ति से हीन मनुष्यों में भी अगर अभीप्सा की लौ जग जाती है तो देखा गया है कि अचानक या तेज़ी से वे आध्यात्मिक उपलब्धि पा लेते हैं, क्योंकि उनमें श्रद्धा थी, क्योंकि वे सच्चे थे। मेरी समझ में नहीं आता कि ये तथ्य, जो आध्यात्मिक इतिहास के तथ्य हैं—सामान्य आध्यात्मिक अनुभूति के—इन पर भला क्यों इस तरह चर्चा की जाये, इन्हें नकारा जाये या इन पर बहस की जाये मानों ये छानबीन करने-लायक मामले हैं! शक्ति—अगर वह आध्यात्मिक है—आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए बल है; उससे बड़ी शक्ति है निष्कपटता; सबसे बड़ी शक्ति है 'कृपा'। मैंने सैकड़ों बार कहा है कि अगर व्यक्ति सच्चा-निष्कपट हो, वह दीर्घ विलम्बों और अभिभूतकारी कठिनाइयों के बावजूद लक्ष्य तक पहुँच जायेगा। मैंने बार-बार 'भागवत-कृपा' के बारे में कहा है। मैंने न जाने कितनी ही बार *भगवद्गीता* की इन पंक्तियों का उल्लेख किया है :

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः

"मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर।"

CWSA खण्ड २९, पृ. १७२

सबमें अन्तरस्थ भगवान् को देख सकें

"मैं चाहता हूँ कि हममें से प्रत्येक इस अवस्था तक पहुँचे कि हम अधम से अधम मनुष्य में भी अन्तरस्थ भगवान् को देख सकें और उसका तिरस्कार करने के बदले उससे कहें, 'उठ, हे ज्योतिर्मय पुरुष! तू, जो चिर पवित्र है, तू, जो न जन्म जानता है न मृत्यु। उठ, हे सर्वशक्तिमान्! और अपना स्वभाव प्रकट कर।' "

आओ, हम इस सुन्दर वचन के अनुसार जीवन यापन करें और तब हम देखेंगे कि हमारे चारों ओर सब कुछ मानों किसी चमत्कार के द्वारा रूपान्तरित हो गया है।

यही भाव है सच्चे, सचेतन और स्पष्टदर्शी प्रेम का, उस प्रेम का जो बाह्य रूपों के परे देखना जानता है, शब्दों के बिना समझना जानता है, उस प्रेम का जो सब विघ्न-बाधाओं के बीच भी अन्तर की गहराइयों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रहता है।

भला क्या मूल्य है हमारे आवेगों और हमारी कामनाओं का, हमारी वेदनाओं और उग्रताओं का, हमारे दुःखों और संघर्षों का, हमारे सभी गहरे आन्तरिक उतार-चढ़ावों का जिन्हें हमारी अव्यवस्थित कल्पना अतिरञ्जित नाटकीय रूप दे देती है? क्या मूल्य है इनका उस महान्, उदात्त और दिव्य प्रेम के सामने जो हमारी सत्ता की अन्तरतम गहराइयों से हमारे ऊपर झुका रहता है, हमारी दुर्बलताएँ सहन करता है, हमारी भूलें सुधारता है, हमारे घाव भरता है, हमारी सम्पूर्ण सत्ता को अपनी नवजीवनदायिनी धाराओं से सराबोर कर देता है?

कारण, अन्तःस्थित भगवान् कभी दबाव नहीं डालते, न कोई दावा करते हैं और न भय दिखलाते हैं। वे तो निज का उत्सर्ग करते हैं, अपने-आपको दे देते हैं, वे सकल प्राणियों और सकल वस्तुओं के अन्दर छिपे हुए अपने-आपको भूले रहते हैं। वे कभी किसी को दोष नहीं देते, किसी के गुण-दोष का विवेचन नहीं करते, किसी को अभिशाप नहीं देते, किसी को दण्डित नहीं करते, बल्कि बिना दबाव डाले, बिना बुरा-भला कहे, निरन्तर सुधारने में, बिना धैर्य खोये उत्साह प्रदान करने में और प्रत्येक को उसकी ग्रहणशक्ति के अनुसार सभी सम्पदाओं से समृद्ध कर देने में लगे रहते हैं। भगवान् माँ हैं, उनका प्रेम जीवन देता है, पोषण करता

है, देखभाल और रक्षा करता है, परामर्श और सान्त्वना देता है। माँ सब समझती हैं, अतः सबको सहारा देती हैं, किसी का दोष नहीं पकड़े रखतीं, सबको क्षमा करती हैं, सबके लिए आशा रखती हैं, सबको तैयार करती हैं। वे सब कुछ अपने अन्दर धारण किये हुए हैं, अतः उनके पास ऐसा कुछ नहीं जो सबका न हो। चूँकि वे सब पर राज्य करती हैं, अतः सबकी सेवक हैं; इसी कारण वे सब छोटे-बड़े, जो उनके साथ राजा और उनके अन्दर देवता बनना चाहते हैं, उन्हीं की भाँति अपने भाइयों के सेवक बनते हैं, स्वेच्छाचारी शासक नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ४८-४९

पापी के पास 'कृपा' का आना

पापी की सहायता के लिए 'कृपा' कैसे आ सकती है भला?

वह पापी को पापी बने रहने में सहायता नहीं करती! वह उसके पाप से पिण्ड छुड़ाने में उसकी मदद करती है; यानी, वह पापी को यह कह कर परे नहीं धकेल देती कि, "मैं तुम्हारे लिए कुछ नहीं करूँगी।" 'कृपा' तो हमेशा बनी रहती है, तब भी जब वह पापकर्म करता है, उसे पाप जारी रखने के लिए नहीं बल्कि उसमें से निकलने के लिए 'कृपा' कार्य करती है।

तुम जानते हो कि इसमें और इस विचार में बहुत भेद है कि तुम ख़राब हो इसलिए "मैं तुम्हारा ख़याल नहीं रखूँगी, मैं तुम्हें अपने से बहुत दूर फेंक दूँगी, और तुम्हारे साथ जो होना हो हो, मेरा इससे कोई सरोकार नहीं।" बात ऐसी नहीं है। तुम 'कृपा' का अनुभव भले न कर पाओ, लेकिन वह हमेशा बनी रहेगी, यहाँ तक कि बुरे से बुरा पापी भी अगर बदलना चाहे तो वह उसे बदलने के लिए, उसके पाप का इलाज करने के लिए उपस्थित रहेगी। वह उसका परित्याग नहीं करेगी, लेकिन पाप करने में उसकी मदद नहीं करेगी। तब तो वह 'कृपा' नहीं होगी।

—'श्रीमातृवाणी' खण्ड ६, पृ. २४७-४८

भागवत करुणा और जगत् में दुःख

भगवान् 'जड़-पदार्थ' में गहरी करुणा की स्थिति से कार्य करते हैं। और यह गभीर भागवत करुणा 'जड़-पदार्थ' में ठीक इस आन्तरात्मिक दुःख

में अनूदित होती है जिसके विषय में यहाँ चर्चा की गयी है।[१] हमने आज सायंकाल यही तो पढ़ा था। यह तो मानों ऐसे हुआ कि कोई वस्तु उलट दी गयी हो, वस्तु वही है पर इस प्रकार उलटी रख दी गयी है *(माताजी अपने हाथों को जोड़ कर समर्पण की मुद्रा में खोलती हैं।)*

हाँ, तो भागवत करुणा की यह अवस्था चैत्य चेतना में एक ऐसे दुःख में अनूदित होती है जो अहंभावयुक्त नहीं होता। यह एक ऐसा दुःख है जो वैश्व दुःख के साथ सहानुभूति के द्वारा तादात्म्य अभिव्यक्त करता है। 'प्रार्थना और ध्यान' पुस्तक में मैंने यह कहा है (अन्त की किसी प्रार्थना में), मैंने अपनी एक अनुभूति का वर्णन किया है: "मैं रोयी... ये मेरे जीवन के मधुरतम आँसू थे। ('प्रार्थना और ध्यान', १२ जुलाई, १९१४) कारण, मेरा यह रोना अपने लिए नहीं था, समझे। हाँ, तो यह बात है। तुम यह जानते तो हो ही न, कि मनुष्य सदा अहंभावयुक्त कारणों से मानवीय रूप से दुःख पाते हैं। उदाहरणार्थ (मैं यह तुम्हें कई बार समझा भी चुकी हूँ), जब वे अपने किसी प्रेमपात्र को खो देते हैं तो वे दुःखी होते और रोते हैं, वे उस व्यक्ति की अवस्था के लिए नहीं रोते, क्योंकि अधिकतर तो ऐसा होता है कि निन्यानबे प्रतिशत व्यक्ति उस व्यक्ति की अवस्था जानते ही नहीं, वे यह भी नहीं जान सकते कि वह व्यक्ति सुखी है या दुःखी, वह कष्ट पा रहा है या शान्ति में है, वे रोते हैं बिछोह की भावना के कारण, जिसे वे स्वयं अनुभव करते हैं, क्योंकि वे उस व्यक्ति को अपने निकट चाहते थे और वह चला गया है। अतः, मानवीय दुःख की जड़ में व्यक्ति सदा अपनी ओर ही मुड़ता है, यह थोड़े-बहुत सचेतन रूप में होता है, इसे थोड़ा-बहुत —कैसे कहा जाये?—मान भी लिया गया है, किन्तु होता सदा ऐसा ही है। जब व्यक्ति दूसरे के दुःख के लिए रोता है, तब भी, सदा मिश्रण होता है। मिश्रण होता है, किन्तु ज्यों ही इस दुःख में चैत्य तत्त्व आ जाता है, त्यों

[१] "प्र०—आजकल मैं बहुत तीव्र पीड़ा का अनुभव करता हूँ जिससे मेरी आँखों में आँसू आ जाते हैं। उसमें कोई बेचैनी या क्षुब्धता नहीं होती, बल्कि उसमें शान्ति, पवित्रता और गहन गम्भीरता का अनुभव जुड़ा होता है। क्या यही वह चीज़ है जिसे चैत्य-दुःख कहते हैं?

"उ०—हाँ, इस तरह का चैत्य-दुःख होता है—लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि चैत्य आँसू दुःख के हों। भावावेग और आनन्द के भी आँसू होते हैं।"

ही सत्ता में "विपरीत करुणा-भाव" उदित होता है, (यही बात मैं अभी-अभी समझाने की कोशिश कर रही थी) और यदि व्यक्ति उन दोनों को अलग-अलग कर सके, उस पर अपने-आपको केन्द्रित कर सके तथा अपने अहंभाव से निकल कर इस विपरीत करुणा के साथ संयुक्त हो सके, तो इसके द्वारा वह उस महान् वैश्व 'करुणा' के सम्पर्क में आ सकता है जो एक असीम, विशाल, स्थिर, शक्तिशाली, गहन और पूर्ण शान्ति एवं असीम मधुरता से परिपूर्ण है।

चैत्य द्वार से करुणा में प्रवेश करना

मेरा अभिप्राय यही होता है जब मैं कहती हूँ कि यदि व्यक्ति अपने दुःख को गहन बना सके, उसके ठीक केन्द्र में पहुँच सके, अपने अहंभावयुक्त और वैयक्तिक भाव से ऊपर उठ कर गहराई में जा सके, तो वह एक महान् अन्तर्-उन्मीलन का द्वार खोल सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हें दुःख के लिए दुःख की चाह करनी चाहिये, किन्तु जब वह हो, जब वह तुम पर घिर आये तब यदि तुम दुःख के अहं से ऊपर उठ सको —पहले यह देख लेना चाहिये कि अहंभावपूर्ण भाग कौन-सा है, कौन-सी वस्तु तुम्हें दुःख दे रही है, तुम्हारे दुःख का अहंभावयुक्त कारण कौन-सा है, और तब इस सबसे ऊपर उठ कर, गहराई में जाकर तुम एक सर्वव्यापी वस्तु की ओर, एक गभीर और सारभूत सत्य की ओर मुड़ते हो, तभी तुम उस असीम 'करुणा' में प्रवेश करते हो, और वहाँ, सचमुच चैत्य का द्वार खुल जाता है। अतएव, यदि कोई मुझे आँसू बहाता देखे तो उस समय यदि वह उन आँसुओं के साथ पूर्णतया एक होने की कोशिश करे, दूसरे शब्दों में, उनके अन्दर प्रवेश करके उनमें पिघल जाये तो वह द्वार खुल सकता है। व्यक्ति द्वार खोल सकता है और सम्पूर्ण अनुभूति, एक अनोखी और विशेष अनुभूति प्राप्त कर सकता है जो अपने पीछे तुम्हारी चेतना पर गहरा प्रभाव छोड़ जाती है। साधारणतया यह प्रभाव कभी नहीं मिटता। किन्तु यदि द्वार पुनः बन्द हो जाये और तुम फिर से वही बन जाओ जो तुम अपनी सामान्य गतिविधियों में होते हो फिर भी वह अनुभूति कहीं, पृष्ठभूमि में बनी रहती है और तुम तीव्र एकाग्रता के क्षणों में दोबारा उसे पा सकते हो; तुम इसे दोबारा पा सकते हो और एक अनन्त माधुर्य एवं

विपुल शान्ति की अपरिमेयता को दोबारा अनुभव कर सकते हो जो... जो सब कुछ समझती है, किन्तु बौद्धिक रूप में नहीं, जो सबके लिए सदय भाव रखती है, सभी वस्तुओं को अपने अन्दर समा सकती है, अतः उनका दुःख हर सकती है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १६४-६६

करुणा और भागवत विरक्ति

मधुर मां, "भागवत विरक्ति" क्या है?

ओह, मेरे बच्चे! *(मौन)* यह ऐसी विरक्ति है जो असीम करुणा से भरपूर है।

यह ऐसी चीज़ है जो खराब स्पन्दनों को अपने ऊपर ले लेती है ताकि दूसरे उससे मुक्त हो जायें। परिणाम... *(मौन)* ग़लत और निम्न गतिविधि के परिणाम को—क्रूर न्याय के साथ भूल करने वाले पर फेंकने की जगह, यह उसे आत्मसात् कर लेती है ताकि उसे अपने अन्दर परिवर्तित कर सके, और की गयी भूल के भौतिक परिणामों को यथासम्भव कम कर दे। मेरा ख़याल है कि भगवान् शिव की वह पुरानी कहानी इस भागवत विरक्ति को अभिव्यक्त करने का कल्पनात्मक तरीक़ा है, जिसमें उनके गले पर एक काला दाग पड़ गया था क्योंकि उन्होंने जगत् में जो कुछ अशुभ था उसे निगल लिया था! इससे उनके गले पर काला दाग पड़ गया।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३२५-२६

भागवत 'करुणा' और भागवत 'कृपा'

अनुकम्पा क्षमा, दया का पर्याय है। यह बल और दयालुता से भरपूर दया है, ऐसी दया जो भूलों का परिमार्जन करती और क्षमा करती है, सभी अपराधों को मिटाती है और हमेशा वही चाहती है जो प्रत्येक के लिए अच्छे-से-अच्छा है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. १७

अनुकम्पा सभी के कष्ट-मोचन के लिए कोशिश करती है, चाहे वे उसके अधिकारी हों या न हों। दिव्य कृपा कष्ट बने रहने के अधिकार को ही स्वीकार नहीं करती। वह उसे विलुप्त कर देती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ३९०

जो भी लायेगा उतार कर दिव्य लोक को भू पर,
उसे प्रथम भू के कर्दम में स्वयं उतरना होगा।
ढोना होगा गहन भार वसुधा की हीन प्रकृति का,
काँटों से आकीर्ण पन्थ से स्वयं गुज़रना होगा।

स्वयं दमित कर निज विभुत्व को मैं नीचे आया हूँ
अधम भूमि पर, मैं जिसकी धूसर रज-बीच पड़ा हूँ।
अज्ञानी, श्रमनिरत मनुज की दुर्बलता अपना कर
जन्म-मृत्यु, इन दो द्वारों के अन्तर्मध्य खड़ा हूँ।

CWSA खण्ड २, पृ. ५३४ —श्रीअरविन्द

विश्व के दुःख-कष्टों को अपने ऊपर ले लेना

माँ, जब भगवान् मानव-कष्ट को अपने ऊपर ले लेते हैं... तो क्या उन पर भी उन कष्टों का वैसा ही असर होता है जैसा कि हम पर होता है? यानी, क्या वे हमारी ही तरह दुःख-कष्ट अनुभव करते हैं?

नहीं! मैं कह सकती हूँ, **नहीं**! क्योंकि, स्पष्ट ही अज्ञान की अवस्था और ज्ञान की अवस्था के बीच एक तात्त्विक भेद है। मान लो, तुम्हारे साथ कोई दुःखद चीज़ घटती है; अज्ञान में यह दुःखद चीज़ एक विशेष रूप धारण करती है। लेकिन अगर तुम इस कष्टकर चीज़ को ज्ञान की अवस्था में ग्रहण करो तो उसके असर वही नहीं होते। किसी भौतिक चीज़ को ही ले लो, जैसे, निरा भौतिक प्रहार, एक अच्छा प्रहार इस तरह का *(संकेत)* हाँ, तो जब तुम अज्ञान की साधारण मानवीय अवस्था में होते हो तो प्रहार का पूरा-पूरा परिणाम आता है। यह पूरी तरह प्रहार की उग्रता पर, प्रहार करने वाले और उसे ग्रहण करने वाले पर निर्भर करता है, समझे। लेकिन अगर यही प्रहार उसी तरीक़े से, उसी चीज़ से एक ऐसी सत्ता पर पड़े जिसमें अज्ञान की जगह ज्ञान है, तो **तुरन्त** शरीर की ऐसी प्रतिक्रिया होगी जो परिणामों को... परिणामों को न के बराबर कर देगी। और यह ठोस तथ्य है! यहाँ तक कि कभी-कभी तो परिणाम बिलकुल रद्द कर दिये जा सकते हैं। चीज़ इस हद तक जा सकती है; यानी, वह (सत्ता) परिणामों को मिटा सकती है, क्योंकि तब प्रतिक्रिया अज्ञान की प्रतिक्रिया होने की जगह ज्ञान की प्रतिक्रिया होती है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि यह एक ही बात है।

नैतिक चीज़ों में यह बिलकुल स्पष्ट है, क्योंकि, उदाहरण के लिए, तुम भावात्मक धक्के को साधारण अहंकारपूर्ण भावना के अन्धेपन के साथ ग्रहण करने की जगह, उसे वस्तुनिष्ठ रूप में लेते हो; देखते हो कि वह क्या चीज़ है, तुम स्पन्दन की रचना को देखते हो; और तुरन्त उस पर प्रकाश, ज्ञान और सत्य डालते हो, और सारी चीज़ें अपने-अपने स्थान पर आ जाती हैं। यह सब तुरन्त हो जाता है। लेकिन मैं इस बात पर ज़ोर देती हूं कि नितान्त भौतिक शरीर पर भी, और नितान्त भौतिक तरीक़े से भी, असर एक-सा नहीं होता। और फिर, इसे समझना काफ़ी आसान है,

क्योंकि अगर एक ही प्रभाव होता तो भगवान् के अपने ऊपर ख़राब चीज़ों को लेने का कोई शुभ परिणाम न होता! क्योंकि उस हालत में वे ज्यों-की-त्यों बनी रहतीं और विश्व भी जो है वही बना रहता। चूँकि भगवान् में इन अन्धकारपूर्ण स्पन्दनों को प्रकाशमय स्पन्दनों में बदलने की क्षमता है, इसलिए वे सब कुछ अपने ऊपर ले सकते हैं। वरना, यह न केवल निरर्थक, बल्कि असम्भव भी होता, यह एक बेतुकी बात होती।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३२६-२७

कार्य करने का भागवत तरीक़ा

जहाँ तक प्रत्येक व्यक्ति के साथ एक ही ढंग से बर्ताव करने की बात है, उसमें तो और भी बुरी उलझन है! यह उस तरह की उलझन है जिसे मनुष्य यह कह कर पैदा करता है कि प्रत्येक मनुष्य के साथ भगवान् को एक ही ढंग से बर्ताव करना चाहिये। इसलिए संसार में अनेकता को होने देने का, एक समान दो व्यक्तियों को न होने देने का कष्ट उठाने का कोई मूल्य नहीं रहेगा; क्योंकि यह अनेकता के सिद्धान्त का ही एकदम खण्डन करता है। संसार में जो कुछ है तुम उस सबके लिए मेल-जोल, एकता, प्रेम, पूर्ण करुणा का एक-सा ही गहरा मनोभाव रखने की अभीप्सा कर सकते हो—यदि तुम नहीं रखते तो रखना चाहिये; परन्तु यह मनोभाव भी प्रत्येक मामले में अलग-अलग तरीक़े से, उस मामले के सत्य तथा उसकी आवश्यकता के अनुसार प्रयुक्त होगा। जिसे कर्म का प्रेरक हेतु अथवा मूल स्रोत कह सकते हैं वह एक ही होता है, पर प्रत्येक मामले और प्रत्येक मामले के गभीरतर सत्य के अनुसार वह कर्म सम्पूर्ण रूप में तथा नितान्त विपरीत भी हो सकता है। परन्तु ठीक इसी कारण, मनुष्य में उच्चतम, गभीरतम, अत्यन्त मौलिक रूप में सच्चा मनोभाव होना चाहिये, वह मनोभाव होना चाहिये जो सभी बाहरी सन्दिग्धताओं से मुक्त हो। तब मनुष्य प्रत्येक क्षण केवल मौलिक सत्य को ही नहीं, बल्कि कर्म के सत्य को भी देख सकेगा; और प्रत्येक मामले में यह भिन्न होता है। और फिर भी, जिसे हम "मनोवृत्ति"—यद्यपि यह एक अपर्याप्त शब्द है—अथवा चेतना की स्थिति कह सकते हैं जिसमें मनुष्य कार्य करता है, मूलतः वही होती है।

परन्तु यह बात तब तक समझ में नहीं आ सकती जब तक कि मनुष्य

वस्तुओं की वास्तविक गहराई में नहीं प्रवेश करता तथा उन्हें उच्चतम शिखरों से नहीं देखता। और तब वह ज्योति और चेतना के एक केन्द्र के जैसा होता है जो इतना अधिक ऊँचा या इतना अधिक गहरा होता है कि एक ही समय में सभी वस्तुओं को, केवल उनके सार-तत्त्व में ही नहीं बल्कि उनकी अभिव्यक्ति में भी, देखा जा सकता है; और यद्यपि चेतना का केन्द्र एक ही है, पर कार्य उतना ही विभिन्न होगा जितनी विभिन्न अभिव्यक्ति होगी : यह भागवत सत्य की, उसकी अभिव्यक्ति के अन्दर, संसिद्धि होगी। अन्यथा यह संसार के समस्त वैविध्य को दबा देना और उसे मूल अनभिव्यक्त 'एकत्व' के अन्दर वापस ले आना होगा, क्योंकि केवल अनभिव्यक्ति के अन्दर ही 'एकम्' के द्वारा 'एकम्' अभिव्यक्त होता है। परन्तु जैसे ही हम अभिव्यक्ति में प्रवेश करते हैं, 'एकम्' 'बहु' के रूप में व्यक्त होता है, और 'बहु' का अर्थ है, कर्मों और पद्धतियों का एक समवाय।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४८५-८६

सृष्टि का दुःख-दर्द भगवान् स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं

माँ, दुःख-कष्ट अज्ञान और यन्त्रणा से आते हैं। भगवती माता —सावित्री में भगवती माता—अपने बच्चों के लिए जो दुःख-कष्ट झेलती हैं वह किस प्रकार का है?

क्योंकि वे उनकी प्रकृति में भाग लेती हैं। उनकी प्रकृति में भाग लेने के लिए ही वे धरती पर उतरी हैं। क्योंकि अगर वे उनकी प्रकृति में भाग न लें तो वे उन्हें आगे न बढ़ा सकेंगी। अगर वे अपनी परम चेतना में बनी रहें जहाँ कोई दुःख नहीं है, अपने परम ज्ञान और अपनी परम चेतना में बनी रहें तो मनुष्यों के साथ उनका कोई सम्पर्क ही न होगा। इसीलिए उन्हें मानव-चेतना और मानव-रूप धारण करना पड़ता है, ताकि वे उनके साथ सम्पर्क स्थापित कर सकें। हाँ, वे भूलती नहीं। उन्होंने उनकी चेतना अपना तो ली है, लेकिन उनका सम्बन्ध अपनी वास्तविक, परम चेतना के साथ बना रहता है। और इस तरह वे दोनों को मिला कर, जो लोग उस दूसरी चेतना में हैं उनसे सचेतन प्रगति करवा सकती हैं। लेकिन अगर वे मानव-चेतना को न अपनातीं, अगर वे उनके दुःख में दुःखी न होतीं तो वे

उनकी सहायता न कर पातीं। उनका दुःख अज्ञान का दुःख नहीं है : यह तादात्म्य का दुःख है। यह इसलिए है, क्योंकि उन्होंने वही स्पन्दन स्वीकार किये हैं जो उनमें होते हैं, ताकि वे उनके सम्पर्क में आ सकें और उन्हें उनकी वर्तमान स्थिति में से बाहर निकाल सकें। अगर वे लोगों के साथ सम्पर्क न रखें तो उन्हें कोई भी अनुभव न कर सकेगा, कोई उनकी ज्योति को न सह सकेगा...। यह सब प्रकार के रूपों में, सब प्रकार के धर्मों में कहा गया है। उन्होंने बहुधा भागवत 'बलिदान' की बात कही है। एक दृष्टिकोण से यह सत्य है। यह स्वेच्छा से बलिदान है, पर है सत्य : पूर्ण चेतना, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शक्ति को तज कर बाह्य जगत् के अज्ञान को स्वीकार करना ताकि उसे अज्ञान में से निकाल सकें। अगर इस अवस्था को न स्वीकार किया जाता तो उसके साथ कोई सम्पर्क ही न होता। कोई सम्बन्ध न जुड़ता। अवतारों के आने का यही कारण है। अन्यथा उनकी ज़रूरत न होती। अगर भागवत चेतना और भागवत शक्ति सीधे अपनी पूर्णता के स्थान या अवस्था से कार्य कर सकतीं, अगर वे जड़ द्रव्य पर वहाँ से सीधी क्रिया कर सकतीं और उसका रूपान्तर कर पातीं तो मनुष्य-जैसा शरीर धारण करने की ज़रूरत ही न होती। तब 'सत्य' के लोक से पूर्ण चेतना द्वारा चेतना पर क्रिया करना ही पर्याप्त होता। वस्तुतः शायद उस तरह क्रिया होती तो है लेकिन इतनी धीमी कि जब संसार को प्रगति करवानी हो, उसे तेज़ी से आगे बढ़ाना हो तो मानव-स्वभाव को स्वीकार करना ज़रूरी हो जाता है। मानव-शरीर धारण करने से, अंशतः मानव-स्वभाव स्वीकारना ज़रूरी हो जाता है। हाँ, अपनी चेतना खोने और 'सत्य' के साथ सम्पर्क खोने की जगह, अवतार इस चेतना को बनाये रखता है, इस 'सत्य' को बनाये रखता है और इन दोनों को जोड़ कर ही वह रूपान्तर का कीमिया पैदा कर सकता है। लेकिन अगर उसने जड़ पदार्थ को न छुआ होता तो कुछ भी न कर पाता।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४२६-२७

दूसरों की बातों में टाँग न अड़ाना

... हस्तक्षेप न करना सदा ही अधिक बुद्धिमानी की बात है—लोग बिना किसी तुक या कारण के हस्तक्षेप करते हैं, केवल इसलिए कि दूसरों

को सलाह देने की उनकी आदत होती है।

तुम्हें चाहे सच्ची वस्तु की अन्तरानुभूति हो, फिर भी हस्तक्षेप करना **विरले** ही बुद्धिमत्तापूर्ण कहा जायेगा। ऐसा करना अनिवार्य केवल तब होता है जब कोई किसी ऐसे काम को करना चाहे जिसका अन्त आवश्यक रूप में किसी विपत्तिजनक हो। तब भी हस्तक्षेप *(माताजी मुस्कुराती हैं)* सदा फलप्रद नहीं होता।

वास्तव में, हस्तक्षेप करना केवल तभी ठीक होता है जब व्यक्ति को यह पूर्ण निश्चय हो जाये कि उसने सत्य को देख लिया है। केवल इतना ही नहीं, उसे परिणामों का स्पष्ट दर्शन भी हो जाये। दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप करने के लिए व्यक्ति को मसीहा होना होगा—हाँ, मसीहा, एक ऐसा मसीहा जिसमें बस हितैषिता और करुणा हो। तुम्हें उन परिणामों की अन्तरानुभूति भी होनी चाहिये जिनका प्रभाव तुम्हारे हस्तक्षेप के द्वारा दूसरे के भाग्य पर होगा। लोग सदा सलाह देने को उत्सुक रहते हैं : "यह करो, वह मत करो", मैं यह देख रही हूँ; उन्हें इस बात की कल्पना भी नहीं है कि किस हद तक वे गड़बड़ पैदा कर देते हैं। वे गड़बड़ को, अव्यवस्था को बढ़ा देते हैं। और कभी-कभी वे व्यक्ति के स्वाभाविक विकास को भी हानि पहुँचाते हैं।

मैं सलाहों को सदा ही ख़तरनाक समझती हूँ और प्रायः ही बिलकुल निरर्थक। तुम्हें दूसरों की बातों में टाँग नहीं अड़ानी चाहिये, जब तक कि, सबसे पहले, तुम दूसरे से असीम रूप में अधिक बुद्धिमान् न होओ —स्वभावतया, व्यक्ति हमेशा अपने-आपको अधिक बुद्धिमान् मानता है! —किन्तु मेरा मतलब यहाँ निष्पक्ष रूप से है, अपने मत से नहीं, जब तक कि तुम उससे अधिक अच्छी तरह वस्तुओं को देख नहीं सकते, जब तक तुम स्वयं आवेगों, इच्छाओं, अन्ध प्रतिक्रियाओं से ऊपर नहीं उठ जाते। तुम्हें स्वयं इन सभी वस्तुओं से ऊपर उठना होगा, केवल तभी तुम्हें किसी दूसरे के जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार हो सकता है—भले ही वह तुमसे इसकी माँग करे। और जब वह तुमसे इसकी माँग ही नहीं करता तो यह केवल एक ऐसी वस्तु में टाँग अड़ाने के समान हुआ जिससे तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. २७७-७८

मैं हमेशा ऊपर की ओर देखती हूँ। 'सौन्दर्य', 'शान्ति', 'प्रकाश' वहाँ मौजूद हैं, वे नीचे आने के लिए तैयार हैं। अतः हमेशा अभीप्सा करो और उन्हें इस धरती पर अभिव्यक्त करने के लिए ऊपर देखो।

दुनिया की कुरूप चीज़ों की ओर नीचे न देखो। तुम जब कभी दुःखी होओ, तो हमेशा मेरे साथ ऊपर देखो।

—'श्रीमातृवाणी' खण्ड १३, पृ. ७०-७१

करुणा तथा वस्तुओं का दिव्य अन्तर्दर्शन

जो बुद्धि के उच्चतर स्तरों पर पहुँच चुके हैं, लेकिन जिन्होंने अपनी मानसिक क्षमताओं पर अधिकार नहीं पाया है, उनमें एक निर्दोष आवश्यकता यह होती है कि हर एक व्यक्ति उन्हीं की तरह सोचे और उसी तरह समझे जैसे वे समझते हैं। और जब वे देखते हैं कि अन्य लोग नहीं समझते, नहीं समझ सकते, तो उनकी पहली प्रतिक्रिया होती है कि उन्हें भयंकर धक्का लगता है और वे ज़ोर से कहते हैं : "कैसे मूर्ख हैं!" लेकिन वे मूर्ख नहीं हैं, वे भिन्न हैं, वे दूसरे ही क्षेत्र में हैं। तुम जानवर के पास जाकर यह नहीं कहते : "तुम मूर्ख हो"; तुम कहते हो, "यह जानवर है।" उसी भाँति तुम कहते हो, "यह आदमी है।" यह आदमी है; हाँ, कुछ ऐसे लोग हैं जो अब मनुष्य नहीं रहे और अभी देवता भी नहीं बने हैं। वे एक ऐसी स्थिति में... कुछ अजीब, भद्दी-सी स्थिति में हैं।

लेकिन यह बड़ी आरामदेह, बड़ी मधुर, बड़ी अद्‌भुत अन्तर्दृष्टि थी... हर चीज़ अपने प्रकार को बिलकुल स्वाभाविक रूप में प्रकट कर रही थी। और यह स्पष्ट है कि अन्तर्दृष्टि के विस्तार और उसकी समग्रता के साथ एक और चीज़ आती है, वह है करुणा जो समझ सकती है—वह दया नहीं है जो श्रेष्ठ को अपने से हीन के लिए होती है : वह सच्ची दिव्य 'करुणा' जिसको इस बात की सम्पूर्ण समझ है कि हर व्यक्ति वही है जो उसे होना चाहिये।

करुणा तथा भागवत प्रेम

लेकिन फिर, अचानक जब 'भागवत प्रेम' की सच्ची 'करुणा' आती है और व्यक्ति इन सब चीज़ों को देखता है जो इतनी भयंकर, इतनी असामान्य, इतनी बेतुकी दिखती हैं, यह महान् पीड़ा जो सभी सत्ताओं पर, सभी वस्तुओं पर छायी हुई है... तब इस भौतिक सत्ता में शमन के लिए, उपचार के लिए, इस चीज़ को हटाने के लिए अभीप्सा पैदा होती है। 'प्रेम' के 'मूल' में कुछ ऐसी चीज़ है जो अनवरत रूप से 'भागवत कृपा' के हस्तक्षेप, शक्ति, मधुरता, प्रशमन के स्पन्दन के जैसी चीज़ बन कर सर्वत्र फैली है। लेकिन ज्ञान से प्रदीप्त चेतना उसे अमुक बिन्दुओं की ओर भेज सकती या उन पर केन्द्रित कर सकती है। और मैंने देखा कि यहाँ, हाँ, यहीं मनुष्य

अपने विचार का सच्चा उपयोग कर सकता है : जहाँ कहीं ज़रूरत हो, इस स्पन्दन को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिए विचार एक प्रकार की प्रणालिका का काम दे सकता है। यह शक्ति, मधुरता का यह स्पन्दन सारे जगत् पर अचल रूप में छाया हुआ है, वह ग्रहण किये जाने के लिए दबाव डालता है, लेकिन यह निर्वैयक्तिक क्रिया है। विचार—ज्ञान से प्रदीप्त विचार, समर्पित विचार, केवल एक यन्त्र के रूप में रह गया है, विचार जो अब स्वयं पहल करने की कोशिश नहीं करता, जो एक उच्चतर 'चेतना' द्वारा परिचालित होने से ही सन्तुष्ट है,—ऐसा विचार एक माध्यम के रूप में काम करता है और इस निर्वैयक्तिक 'शक्ति' के साथ सम्पर्क स्थापित करने, नाता जोड़ने और जहाँ कहीं ज़रूरत हो वहाँ उसे निश्चित बिन्दुओं पर क्रिया करने-योग्य बनाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ३०, ४४-४५

करुणा तथा न्याय

क्या भगवान् अन्याय के लिए दण्ड देते हैं? क्या भगवान् के लिए किसी को दण्ड देना सम्भव है?

भगवान् चीज़ों को उस तरह नहीं देखते जैसे मनुष्य देखते हैं और उन्हें दण्ड देने और पुरस्कार देने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक कर्म अपने अन्दर अपना फल और अपना परिणाम लिये रहता है।

कर्म की प्रकृति के अनुसार वह तुम्हें 'भगवान्' के निकट लाता है या 'उनसे' दूर ले जाता है। और यही परम परिणाम है।

*

मनुष्य के विधान के अनुसार अपराधी को दण्ड मिलना चाहिये। लेकिन एक विधान है जो मानव विधान की अपेक्षा अधिक अनिवार्य है। वह है 'भागवत' विधान, अनुकम्पा और दया का विधान।

इसी विधान के कारण संसार सह पा रहा है और 'सत्य' तथा 'प्रेम' की ओर प्रगति कर रहा है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. २६-२७

... मनुष्य हमेशा विश्वास करते हैं कि अपराधी को सज़ा मिलनी चाहिये, तभी तुम कठिनाइयों से बच सकते हो, लेकिन सच्चा तरीक़ा है, करुणा और दया दिखलाना। यह नहीं कि तुम सच्ची और ग़लत क्रिया में भेद नहीं कर सकते, लेकिन हमेशा तुम्हारे अन्दर दया और करुणा की सहज भावना होनी चाहिये—मेरा यह अन्तर्दर्शन बहुत स्पष्ट था कि इसी तरह प्रगति की जा सकती है—अगर हमेशा किसी के दोषों को देखते ही तुम उसे दण्ड देने पर उतारू हो जाओ तो कोई भी नहीं बचेगा!

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से १९ नवम्बर १९६६

अपार करुणा जो स्वयं को थोपती नहीं

जो यह मानते हैं कि उनके अन्दर श्रद्धा है वे भी यह चाहते हैं कि सब कुछ उन्हीं के लिए हो; वे परम 'शक्ति' पाना चाहते हैं, अपने अविश्वास, अपनी मूर्खता, अपनी अक्षमता के बावजूद वे चाहते हैं कि परम प्रभु उनके लिए सब कुछ करें। इसी को वे सर्वसमर्थ होना कहते हैं। वे इतना तक नहीं समझते कि अगर 'सत्य का यह परम स्पन्दन' स्वयं को उन पर आरोपित कर दे तो विध्वंस हो जायेगा, यानी वे स्वयं नष्ट हो जायेंगे, क्योंकि वे उसे पाने के लिए तैयार नहीं हैं। वे बिना तैयारी के सब कुछ पाना चाहते हैं!

सचमुच पृथ्वी पर आश्चर्यों का आश्चर्य है यह अनन्त 'करुणा', जिसकी अनुकम्पा से कोई वस्तु हमेशा के लिए नष्ट नहीं हो जाती: वह परम करुणा प्रतीक्षा करती है, वह अपनी पूरी शक्ति के साथ पृथ्वी पर मौजूद रहती है, स्वयं को थोपती नहीं, साथ ही वह विनाश को कम-से-कम कर देती है।

वह अद्‌भुत है, अद्‌भुत 'करुणा' है!

और वे मूढ़ कहते हैं कि वह दुर्बल है, क्योंकि वह उनकी सनकों के अनुसार क्रिया नहीं करती!

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से १७ सितम्बर १९६६

तुम जो कुछ कहते हो उसमें बस एक ही बात सच्ची है, कि प्रेम निःस्वार्थ और बिना शर्त होता है। तुम्हारे लिए मेरा और श्रीअरविन्द का प्रेम ऐसा ही है।

—श्रीमाँ

चौंकाने वाला सूत्र

आपकी चिट्ठी में सबसे ज़्यादा चौंकाने वाला सूत्र मैंने यह देखा—"अन्दर है अन्तरात्मा और ऊपर है परम कृपा"—जिसके बारे में आप कहते हैं, "बस तुम्हें यही जानना है या बस इसी को जानने की तुम्हें आवश्यकता है।" सचमुच क्या बस हमें इतना ही जानना है?

जो कोई आध्यात्मिक जीवन चाहता है, हाँ, उसके लिए इतना पर्याप्त है।

जिसे 'कृपा की अवस्था' कहा जाता है उससे चिपके रह कर ही क्या मनुष्य वहाँ तक पहुँच सकता है या फिर, चूँकि उसके अन्दर अन्तरात्मा विद्यमान है इस कारण पहुँचता है?

हाँ, चिपके रह कर वह पहुँच सकता है, बहुतों ने ऐसा किया है।

लेकिन फिर, सभी में अन्तरात्मा तो है ही और सभी के ऊपर 'कृपा' भी विद्यमान है। फिर मनुष्यों ने भगवान् से मुँह कैसे मोड़ लिया भला?

राजसिक अहंकार, महत्त्वाकांक्षा, दर्प के कारण—क्योंकि उन्हें 'कृपा' पर नहीं, बल्कि स्वयं अपने प्रयासों पर विश्वास होता है।

मैंने यह कभी नहीं सुना कि 'कृपा' ने सब कुछ कर दिया। और किसी-किसी मामले में अगर ऐसा लगता भी है तो क्या पता यह उसके पिछले जन्म की साधना का फल हो! आप इसे अस्वीकार नहीं कर सकते हैं, कर सकते हैं क्या?

आध्यात्मिक इतिहास के कई मामले मैं तुम्हें दे सकता हूँ—पहला ही ले लो—जगाई मधाई का। लेकिन ऐसे मस्तिष्क के साथ कुछ भी करना व्यर्थ है जो यह भी नहीं मानना चाहता कि २+२=४ होते हैं। तुम इसे स्वीकार नहीं कर सकते, कर सकते हो क्या?

बस चिपके रहने से काम नहीं चलेगा। अगर ऐसा होता तो आश्रम की बिल्ली बुशी को तो अच्छा मौका मिल जायेगा।

निस्सन्देह, उसे सुअवसर प्राप्त है—अपने अगले जीवन में जन्म के नये स्तर पर उठने के लिए सभी अनुकूल अवस्थाएँ उसके साथ हैं।

साधना में चूँकि हमें भगीरथ प्रयास करना होता है इसी कारण 'कृपा' पर विश्वास करने से मैं हिचकिचाता हूँ। क्या 'कृपा' ऐसी वस्तु नहीं है जो बिना किसी शर्त के नीचे उतर आये?

वह किन्हीं भी शर्तों पर निर्भर नहीं करती—साधना में मुख्य चीज़ है, प्रत्येक साधक का पूर्ण आत्म-समर्पण जो किन्हीं भी शर्तों से बँधा न हो।

रामकृष्ण के बिलौटे जैसे साधक को भी समर्पण के लिए निर्णायक क्रिया करनी होती है, अपनी बाक़ी सत्ता को आज्ञापालन करने के लिए बाध्य करना होता है, जो कि मैं कहना चाहता हूँ सर, संसार की सबसे कठिन चीज़ है।

मैंने कभी नहीं सुना कि बिलौटा ऐसा होता है, तब वह बिलौटा न होगा। (वह होगा बन्दर का बच्चा जो बिलौटा बनने की कोशिश में होगा, क्योंकि जो तुम कह रहे हो वह बात तो बन्दर के बच्चे पर लागू होती है।) लेकिन, निश्चित रूप से तुम्हारे अन्दर आध्यात्मिक चीज़ों के बारे में इतना गहरा ज्ञान है (जो मेरे और रामकृष्ण के ज्ञान को भी पार कर जाता है) कि मैं बस तुम्हारे सामने सिर नवा कर तुमसे कम ज्ञान वाले व्यक्तियों की पंक्ति में हाथ बाँधे खड़ा हो सकता हूँ!

सचमुच आपका योग एक पहेली है और इसका सिर-पैर कुछ भी मेरे पल्ले नहीं पड़ता, शायद कभी पड़े भी नहीं।

तुम्हें न इसका सिर पकड़ना है न पैर। बस इतना काफ़ी होगा कि तुम इसे अपना सिर या पूँछ, या फिर दोनों ही पकड़ने की अनुमति दे दो! जय हो, जय हो! पूँछ पहले!

Correspondance with Nirodbaran पृ. ४६४-६६

श्रीमाँ की अनुकम्पा

यह सब कुछ (संसार, आश्रम) मेरी चेतना में उपस्थित है, सभी के लिए मेरे अन्दर अपार करुणा है और इसका प्रयोग मैं सभी कठिनाइयों, सभी बाधाओं पर समान रूप से करती हूँ ताकि वे विघ्न हट जायें। तुम जानते ही हो कि मेरे पास दर्जनों-दर्जनों चिट्ठियाँ आती हैं और हर एक अपनी छोटी-सी समस्या और दुःखड़े के साथ मेरे पास आता है, भले वह आन्तरिक हो या बाहरी (छोटी-सी, तिल जैसी समस्या उनके लिए ताड़ जैसी होती है...)। जब लोग मेरे पास आते हैं तो मेरी आन्तरिक चेतना हमेशा एक जैसा उत्तर देती है, यानी, उसके अन्दर हर एक के लिए समानता और अनुकम्पा होती है। लेकिन जब लोग मेरे साथ बातें करते हैं या मैं कोई चिट्ठी पढ़ रही होती हूँ और मेरा शरीर इस बात से सचेतन हो जाता है कि इनके दुःख-दर्द के लिए मुझे 'क्या करना चाहिये' तो मेरे अन्दर कुछ इस तरह का भाव उठता है : 'लोग चीज़ों को इस तरह क्यों लेते हैं! वे उन्हें ज़्यादा मुश्किल बना देते हैं।' वे यह नहीं समझते कि वे छोटी-से-छोटी कठिनाई को कितने स्वार्थी रूप में ले लेते हैं, उस पर कितने आत्मकेन्द्रित हो जाते हैं, और इस तरह ज़रा-ज़रा सी कठिनाइयों को विकराल रूप दे बैठते हैं!

यह देखना बड़ा मज़ेदार होता है कि किसी भी कठिनाई को सामान्य मनुष्य कितना बढ़ा-चढ़ा कर देखता है!... जब कि अगर वह सच्चा मनोभाव रखे—सामान्य मनोभाव, सीधा-सरल—ओह! तब जीवन कितना सुखद-सहज हो उठेगा। इसके लिए व्यक्तियों को सरल होना होगा। अगर व्यक्ति शरीर में सरलता के स्पन्दन पैदा कर ले तो कठिनाइयों के सामने उसकी प्रतिक्रिया 'सामान्य' होगी, शान्त और विश्वस्त होगी, और इससे चीज़ें कितनी सरल हो जायेंगी! लेकिन जैसे ही बेचैनी, डर, असन्तोष की व्याकुलता आ जाये कि बस, सब ख़तम...। इसीलिए मैं कहती हूं कि कठिनाई को अगर विश्वास और सरलता के साथ स्वीकार कर लिया जाये तो वह कम-से-कम हो जाती है, मेरे कहने का मतलब है कि भौतिक रूप से भी उसके स्पन्दन कमज़ोर पड़ जाते हैं। कोशिश कर देखो!

(एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से) २५ फरवरी १९६१

भागवत करुणा और न्याय का कठघरा

भूल या सज़ा देने का कोई प्रश्न ही नहीं है—अगर लोगों को हम उनकी भूलों के लिए अपराधी ठहरायें या उन्हें सज़ा दें, और साधकों के साथ ऐसे व्यवहार करें मानों वे न्याय के कठघरे में खड़े हों, तो कोई साधना सम्भव नहीं। मेरी समझ में नहीं आता कि हमारे विरुद्ध तुम्हारी बात कैसे न्यायोचित है। साधकों के प्रति हमारा एकमात्र कर्तव्य यही है कि हम उन्हें उनकी आध्यात्मिक उपलब्धि की ओर ले जायें—हम परिवार के मुखिया की तरह नहीं बर्ताव कर सकते कि उनके घरेलू झगड़ों में पड़ें, किसी एक की तरफ़दारी करें, किसी दूसरे के विरोध में अपनी धौंस जमायें! चाहे जितनी बार 'क्ष' डगमगाये, हमें उसका हाथ थामना होगा, उसे फिर से उठाना होगा और एक बार फिर उसे भगवान् के पथ पर बढ़ाना होगा। हमने तुम्हारे साथ भी हमेशा ऐसा ही किया है। लेकिन हम उस पर तुम्हारी कोई माँग नहीं लाद सकते। वह उसके और भगवान् के बीच का मामला है। हाँ, तुम्हारे लिए जिस एकमात्र चीज़ का हमने आग्रह किया है, और वह भी तुम्हारी पूरी सहमति के साथ और हमारे प्रति तुम्हारी इस निरन्तर प्रार्थना के उत्तर में कि 'क' के साथ पूरी तरह से तुम्हारा प्राणिक सम्बन्ध कट जाये। इसी कारण हम उस सम्बन्ध के आधार को ही पूरी तरह मिटाने पर ज़ोर दे रहे हैं। और अब तुम हमें लिख रहे हो कि चूँकि तुमने 'व' से जो कुछ कहा, उसका हमने समर्थन नहीं किया, भले ही तुम्हारी क्रिया चाहे जो भी रही हो, इसलिए तुम हमेशा के लिए हमें छोड़ रहे हो!

मैं तुमसे कहना चाहूँगा कि अपने बेहतर स्वभाव को दोबारा ऊपर ले आओ, अपनी सच्ची चेतना में बसो और इन प्राणिक आवेशों को निकाल बाहर फेंको जो तुम्हारे स्वभाव के योग्य नहीं हैं। तुमने श्रीमाँ के प्रति अपने प्रेम के बारे में बार-बार लिखा है, उस आनन्द का कितनी ही बार उल्लेख किया है जो तुम्हें उनसे मिला और उन असंख्य आध्यात्मिक अनुभूतियों का भी जो तुम्हें हुईं। उस सबको याद करो और याद करो कि यही तुम्हारा सच्चा पथ है, तुम्हारी सच्ची सत्ता है, दूसरी किसी चीज़ का मूल्य नहीं है। अपनी धीरता को फिर से प्राप्त करो और अपनी निम्न प्रकृति, उसके अन्धकार और अज्ञान को उखाड़ बाहर फेंक दो।

CWSA खण्ड ३२, पृ. ११५-१६ —श्रीअरविन्द

कृपा के उपहार

श्रीअरविन्द की कृतियों का महत्त्व

श्रीअरविन्द ने अपने ज्ञान का बहुत छोटा हिस्सा हमारे सम्मुख रखा है, और उसे भी सचमुच कोई गहराई तक पकड़ नहीं पाता। यहाँ, उनके वातावरण में रहने का एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि हम अधिक सचेतन हो सकते हैं...। उन्होंने हमारे सामने इस पार्थिव जगत् के आनन्ददायक गुह्य द्वार खोल दिये हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में 'सत्य' को उसकी पवित्रता तथा सम्पूर्णता में उजागर कर दिया है। उन्होंने हमारे लिए उदात्त आनन्द तथा पावन ज्योति को इकट्ठा कर दिया है जिससे यहाँ का वातावरण पूरी तरह ज्योतिर्मय हो गया है। तुम यहाँ उस वातावरण को अपनी साँस में भर रहे हो, अपने अन्दर उतार रहे हो, आत्मसात् कर रहे हो, और तुम्हें यह भी नहीं पता कि तुम सबको यह ऐसा विरल सौभाग्य मिला है जो और कहीं नहीं मिलता। यहाँ तक कि यह तुम्हारी सत्ता का अंश बन गया है।...

और अगर विद्यार्थियों में कुछ सीखने की ललक हो तो मैं निश्चित रूप से कह सकती हूँ कि संसार के किसी भी कोने की अपेक्षा विद्यार्थी यहाँ ज़्यादा अच्छी तरह सीख सकते हैं, हाँ, यह केवल तभी सम्भव है जब तुम अपने मस्तिष्क को सच्चे ज्ञान, पवित्र विचार से भरना, सचमुच सीखना चाहो, उचित रूप में मनन-चिन्तन करना, निष्कर्ष निकालना और समझना चाहो, जानने और बुद्धिमान् बनने की इच्छा रखो और अपने समस्त परिवेश के प्रति जागरूक और सचेतन बनना चाहो; तुम जो देखते हो, अनुभव करते हो, वस्तुतः जब तुम अपनी मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक क्षमताओं को विकसित करना चाहो तो... प्रत्येक वस्तु के लिए उनकी कृतियों के अध्ययन में डूब जाओ, और तुम देखोगे कि तुम ऊँचाइयों पर चढ़ते चले जा रहे हो, तुम्हारे अन्दर की सभी सुप्त क्षमताएँ विकसित हो रही हैं और पूर्ण अनुशासन के साथ तुम एक नयी प्रक्रिया में खिल रहे हो; अर्थात्, तुम अपने चारों तरफ़ की परिस्थितियों, यहाँ तक कि संसार के स्वामी बन रहे हो—यही है 'ज्ञान'—अपने-आपको जानना, उसके बाद व्यक्ति सबका स्वामी बन जाता है।...

Blessings of the Grace पृ. ११२

एक 'प्रशान्ति' जो झुलाती है भाग्य को अपने जानु पर;
एक विशाल 'अनुकम्पा' नमित होती पृथ्वी की पीड़ा का करने को आलिंगन;
एक 'साक्षी' रहता है हमारी गोपनताओं के अन्दर,
मानव की देह में 'देवत्व' मूर्तिमन्त।

CWSA खण्ड २, पृ. ६०७ —श्रीअरविन्द

सावित्री

श्रीअरविन्द यहाँ तुम्हें 'सत्य' को जानने की, 'चेतना' को खोजने की, विश्व क्या है इस समस्या को हल करने की चाबी देते हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि निश्चेतना के द्वार कैसे खोले जायें ताकि प्रकाश वहाँ प्रविष्ट होकर उसका रूपान्तर कर सके। उन्होंने अपने-आपको अज्ञान से मुक्त करके सीधे अतिचेतन तक चढ़ने का रास्ता दिखाया है, उन्होंने हर एक स्तर, चेतना का हर एक लोक दिखाया है और यह बताया है कि उन पर कैसे चढ़ा जा सकता है, कि मृत्यु की बाधा को पार करके कैसे अमरता तक पहुँचा जा सकता है। तुम इसमें सारी यात्रा विस्तार से पा सकते हो और जैसे-जैसे तुम आगे बढ़ोगे तुम नयी चीज़ें देखोगे जो अभी तक मनुष्यों के लिए अज्ञात हैं। 'सावित्री'-पाठ एक सच्ची अनुभूति है। मनुष्य ने जितने भी रहस्य हस्तगत किये हैं उन सबको श्रीअरविन्द ने प्रकट कर दिया है और उस सबको भी जो भविष्य के गर्भ में है। यह सब 'सावित्री' की गहराई में है। लेकिन इस सबको खोजने के लिए ज्ञान चाहिये, चेतना के लोकों की अनुभूति, अतिमानस की अनुभूति, यहाँ तक कि 'मृत्यु' पर विजय की अनुभूति भी होनी चाहिये। उन्होंने सभी अवस्थाओं का आलेखन किया है, प्रत्येक पग पर निशान लगाया है ताकि पूर्णयोग में सर्वांगीण प्रगति हो सके।

... ये ऐसी अनुभूतियाँ हैं, ऐसी वास्तविकताएँ और विश्व से परे के सत्य हैं जिन्हें वे जी चुके हैं। उन्होंने इन सबका उसी तरह अनुभव किया था जैसे तुम भौतिक रूप में सुख-दुःख का अनुभव करते हो। वे निश्चेतना के अन्धकार में, मृत्यु के पास-पास चले, उन्होंने सर्वनाश के दुःख सहे और कीचड़ में से, संसार के दुःख-दारिद्र्य में से निकल कर परम प्राचुर्य में साँस लेते हुए वे परम आनन्द में प्रविष्ट हुए। उन्होंने इन सब क्षेत्रों को पार किया, भौतिक रूप में इतना अधिक दुःख पाया और सहन किया जिसकी कोई कल्पना नहीं कर सकता। आज तक किसी ने भी इतना अधिक दुःख सहन नहीं किया है। उन्होंने दुःख को स्वीकार किया ताकि दुःख को परम प्रभु के साथ ऐक्य के आनन्द में बदल सकें। यह एक ऐसी अद्वितीय वस्तु है जिसकी तुलना संसार के इतिहास में किसी से नहीं की जा सकती। यह एक ऐसी चीज़ है जो पहले कभी नहीं हुई। वे 'अज्ञात' का पथ खोजने वाले पहले व्यक्ति हैं। उन्होंने इस पथ को इसलिए खोजा

है ताकि हम 'अतिमानस' की ओर निश्चिति के साथ बढ़ सकें। उन्होंने हमारे लिए काम आसान कर दिया है। 'सावित्री' रूपान्तर का पूर्णयोग है और यह योग पार्थिव चेतना में पहली बार प्रकट हो रहा है।

Luminous Notes —मोना सरकार

आश्रम

सुनो, जैसा कि मैंने किया था जब मैं जापान से आयी थी : मैं जहाज़ पर, समुद्र में थी, किसी चीज़ की आशा नहीं कर रही थी (अवश्य ही मैं अपने आन्तरिक जीवन में व्यस्त थी, पर मैं भौतिक रूप से जहाज़ पर विद्यमान थी), तब एकाएक, अकस्मात्, पॉण्डिचेरी से लगभग दो सामुद्रिक मील की दूरी पर, वातावरण के, वायु के प्रकार में, मैं यहाँ तक कह सकती हूँ कि उसके भौतिक प्रकार में इतना अधिक परिवर्तन हो गया कि मैं जान गयी कि हम श्रीअरविन्द के ज्योति-मण्डल में प्रवेश कर रहे हैं। यह एकदम **भौतिक** अनुभव था और मैं विश्वास दिलाती हूँ कि जिस किसी व्यक्ति में पर्याप्त जाग्रत् चेतना है वह इस चीज़ को अनुभव कर सकता है।

मुझे इससे विपरीत अनुभव भी प्राप्त हुआ था, जब कि मैं यहाँ बहुत वर्षों तक रहने के बाद पहली बार कार से बाहर घूमने निकली थी। जब मैं "झील" के उस ओर कुछ ही दूर पहुँची कि मैंने अकस्मात् यह अनुभव किया कि वातावरण बदल रहा है; जहाँ कि पहले समृद्धि, शक्ति, ज्योति और स्फूर्ति अनुभूत हो रही थी, अब वह सब कम होती जा रही थी, घटती जा रही थी... और फिर... कुछ नहीं रहा। मैं मानसिक या प्राणिक चेतना में नहीं थी, मैं एकदम भौतिक चेतना में थी। हाँ, जो लोग अपनी भौतिक चेतना में संवेदनशील होते हैं उन्हें बिलकुल ठोस रूप में उसे अनुभव करना चाहिये। और मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि जिस क्षेत्र को हमलोग "आश्रम" कहते हैं उसमें शक्ति का जैसा घनीभूत रूप है वैसा शहर के दायरे में बिलकुल भी नहीं है और देहाती क्षेत्र के दायरे में तो और भी कम है।... —'श्रीमातृवाणी' खण्ड ४, पृ. २६६-६७

सत्य का संसार बिलकुल तैयार है : मनुष्य ही तैयार नहीं है

देखो, ऐसा नहीं है कि 'सत्य' के इस संसार की रचना 'कुछ नहीं'

से करनी है : वह पूरी तरह से तैयार है, वह यहाँ उपस्थित है, वह हमारे वर्तमान जगत् के नीचे अस्तर की तरह लगा हुआ है। सब कुछ यहाँ है, सब कुछ।

मैं इस अवस्था में पूरे दो दिन रही, दो दिन सम्पूर्ण परमानन्द में। और सारे समय श्रीअरविन्द मेरे साथ थे, सारे समय—जब मैं चलती, वे मेरे साथ चलते, जब मैं बैठती, वे मेरे साथ बैठते। १५ अगस्त के रोज़ भी, दर्शन के समय वे निरन्तर मेरे साथ ही थे। लेकिन कौन यह समझ पाया? बहुत कम—एक या दो ने कुछ अनुभव किया। लेकिन किसने देखा? —किसी ने नहीं।

और मैंने सभी लोगों को श्रीअरविन्द को दिखलाया, यह सारा कार्यक्षेत्र दिखलाया और पूछा कि यह दूसरा संसार, सच्चा जगत् जो यहाँ हमारे इतनी पास है, वह हमारे इस असत्य के जगत् पर कब अधिकार करेगा? *तैयार नहीं है। यह जगत् तैयार नहीं है*—यह था उनका उत्तर।

श्रीअरविन्द ने मुझे इस परम आनन्द के दो दिन प्रदान किये, लेकिन, दूसरे दिन के अन्त में मैं समझ गयी कि मैं यहाँ रहना जारी नहीं रख सकती क्योंकि मेरा वहाँ का काम आगे नहीं बढ़ रहा है। पृथ्वी का कार्य सशरीर होना चाहिये; उपलब्धि यहाँ इस भौतिक जगत् में प्राप्त करनी होगी, अन्यथा वह सम्पूर्ण न होगी। अतः मैं उस जगत् से यहाँ लौट आयी और यहाँ अपने काम में जुट गयी।

फिर भी, इस जगत् से उस जगत् में जाना, यानी उसको यहाँ का सच्चा जगत् बना देना, यहाँ उतार लाना सचमुच चुटकी बजाने-भर का काम है, या फिर अपने आन्तरिक मनोभाव का ज़रा-सा पलटाव है। कैसे कहूँ?... सामान्य चेतना के लिए यह बहुत ही सूक्ष्म है : बहुत ही ज़रा-सा आन्तरिक खिसकाव काफ़ी है, उससे सब कुछ बदल सकता है।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से ६ अक्तूबर १९५९

समाधि

अगर कुछ सही नहीं हो रहा तो तुम उसका कारण ज़रूर जानना चाहोगे, या अगर तुम किसी कमज़ोरी से पीछा छुड़ाना, नीरोग होना, अन्दर की सफ़ाई करना या फिर पवित्र होने के लिए किसी कठिनाई को निकाल बाहर

करना चाहो तो—किसी भी चीज़, किसी भी जवाब के लिए श्रीअरविन्द के पास समाधि पर आओ और तुम्हें जवाब मिल जायेगा। न केवल उनका जवाब बल्कि 'उनके' आशीर्वाद, 'उनकी' करुणा, 'उनकी' शान्ति और 'उनकी' ज्योति भी प्राप्त होगी। 'उनका' सर्वशक्तिशाली प्रेम तुम पर हावी हो जायेगा, उससे तुम सराबोर हो जाओगे। एक बार तुम अपने-आपको 'उनकी' बाँहों में बस छोड़ भर दो, सभी दुर्घटनाओं से तुम्हें बचा लिया जायेगा। ऐसा ही होता है—यह 'उनका' प्रभाव है। वे उन सभी के सम्मुख स्वयं को प्रकट करते हैं जो सरल-सीधे हैं, सच्चे-निष्कपट और विनम्र हैं। 'वे' यहाँ उपस्थित हैं, सम्पूर्ण सचेतन रूप में हैं, और 'वे' संसार की सभी गतियों का सञ्चालन करते हैं। जब कभी मैं कुछ जानना चाहती हूँ, मैं 'उनसे' पूछती हूँ और 'वे' तुरन्त मुझे उत्तर दे देते हैं।
Blessings of the Grace पृ. १२१

'उन्होंने' स्वयं को सार्वभौम बना लिया है

जानते हो, जब श्रीअरविन्द सशरीर थे तब लोग कहा करते थे कि वे बहुत दूरस्थ, अलग-थलग रहते हैं, हम मनुष्यों की पहुँच के परे हैं, कि वे यहाँ साधकों के मामलों में रुचि नहीं रखते, अपनी ही साधना में लीन रहते हैं। लेकिन यह बात एकदम ग़लत है, क्योंकि वास्तव में धरती को ऊपर उठाने और उसे अतिमानसिक जगत् के आविर्भाव के लिए तैयार करने के अपने कार्य की बजाय, वे रात-पर-रात साधकों की चिट्ठियों के अम्बार का जवाब दिया करते थे। उनकी प्रगति का पूरा लेखा-जोखा रखते थे और उनके हर मामले में अपना पूर्ण योगदान देते थे। और साथ ही उन्होंने चीज़ों की इस तरह व्यवस्था कर दी थी कि साधक सीधा मेरे साथ सम्पर्क साध कर मेरे आशीर्वाद पा सकते थे, भौतिक स्तर के साथ-साथ साधना में आन्तरिक रूप से भी सहायता पा सकते थे। मेरे द्वारा ही साधक चेतना की ऊँचाइयों को उपलब्ध कर, अतिमानस की ओर बढ़ सके, हर प्रकार की बाधा को पार कर सके। उस समय श्रीअरविन्द उन विभिन्न लोकों, विविध शक्तियों और चेतना के असंख्य स्तरों पर नियन्त्रण पाने, न केवल उनको जीतने बल्कि उन्हें अपने अधीन करने में तल्लीन थे जो उनका विरोध कर रहे थे और हमारे कार्य के रास्ते में बाधा बने खड़े

थे। तभी अतिमानस की खोज में बढ़ा जा सका। उस समय सभी दैनन्दिन मामले मेरे सुपुर्द कर दिये गये थे और साथ ही आश्रम की पूरी व्यवस्था और व्यक्तिगत प्रगति तथा सामूहिक योग का सारा कार्यभार मुझ पर था। उन दिनों उनके पास लोगों से मिलने या उनकी शिकायतें इत्यादि सुनने का समय न के बराबर था। लेकिन अब उन्होंने अपने-आपको सार्वभौम बना लिया है, वे बहुत विशाल और बहुत घनिष्ठ हो गये हैं। प्रत्येक के साथ उनका एक ऐसा निकट का सम्बन्ध जुड़ गया है और उनका ऐसा सीधा प्रभाव हम पर पड़ रहा है कि हर एक 'उन' तक पहुँच सकता है।

यह अपूर्व है। समाधि के चारों ओर 'उनकी' उपस्थिति स्पन्दित हो रही है, वह बहुत ठोस है। और 'उनका' प्रभाव हमारी केन्द्रीय सत्ता को भेद कर उसका स्पर्श करता है और हमारी चेतना को आध्यात्मिक जीवन की ओर जाग्रत् कर देता है। यहाँ तक कि नास्तिक, अविश्वासी, दुर्भावनावाले व्यक्ति, जो मात्र उत्सुकतावश समाधि देखने आते हैं, वे भी एक रहस्यमय कीमिया से आश्चर्यान्वित और एक आन्तरिक शान्ति से अभिभूत हो लौटते हैं, क्योंकि वहाँ वे 'अपनी' शान्ति तथा 'अपनी' करुणा की निरन्तर बौछार करते रहते हैं। जब हम समाधि पर जाते हैं तो इस सबसे सराबोर हो लौटते हैं। यह 'उनकी' शक्ति तथा 'उनकी' उपस्थिति की अभिभूत करने वाली अविश्वसनीय क्रिया है।

Blessings of the Grace पृ. १२१-२२

शरणागत

हममें से अधिकतर सचमुच सामान्य लोग थे जो योग के बारे में बहुत कम जानते थे। श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द ने हम जैसे थे वैसे ही हमें अपना लिया। यथार्थ रूप से उनके योग के तत्त्वों में यह एक प्रमुख तत्त्व है कि "अगढ़, अनाकार" सीधे-सरल प्रकृतिवाले लोगों को लेकर उन्हें उनकी अन्तरात्मा की प्रतिकृति के साँचे में ढालना। जब मैंने यह घोषणा की, "कैसे महान् गुरु के कैसे ओछे शिष्य हैं हम! ओह! कितना अच्छा होता अगर आपने कुछ अधिक अच्छा उपादान लिया होता"। श्रीअरविन्द ने उत्तर में कहा, "शिष्यों के बारे में कही बात मैं स्वीकार करता हूँ! लेकिन कुछ अधिक अच्छा उपादान, क्या मानवजाति की समस्या को हल कर

देता? यानी, कुछ एक विरल उदाहरणों को लेकर समस्या को सुलझाना सम्भव ही न होता।"

पाठकगण यह देख कर आश्चर्य और अहोभाव में खो जायेंगे कि हमारे गुरुदेव और हमारी माँ हर एक साधक का कितना ध्यान रखते थे, उनकी कितनी परवाह करते थे, उनकी हर एक समस्या को हल करने में कैसे तत्पर रहते थे। क्या हम कल्पना कर सकते हैं कि एक साधक-रोगी के छोटे-से फोड़े की शिकायत पर श्रीअरविन्द ने चिकित्सक को उसके यहाँ भेज कर जाँच करने को कहा, हालाँकि सब जानते थे कि शिकायत सचमुच निराधार थी! खुद मैं, चिकित्सक होने की हैसियत से, छुतहा बीमारी के रोगी का अन्य आश्रमवासियों के साथ रहन-सहन, खान-पान का कट्टर विरोधी था, मैं चाहता था कि उसे यहाँ से भेज दिया जाये। श्रीअरविन्द के पास बात पहुँची, उनका छोटा-सा अनुकम्पा-भरा उत्तर आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है, "उसका और कहीं ठौर नहीं है।"

—नीरदवरण

हमेशा दूसरों का ध्यान रखने वाले गुरु

आश्रम की इमारत में ऊपर का बरामदा बहुत पवित्र है, वहाँ गुरु श्रीअरविन्द रोज़ सवेरे दो-तीन घण्टे और शाम को क़रीब १ घण्टा बैठते थे, वहीं 'सान्ध्य-वार्ताएँ' (Evening talks) हुआ करती थीं। वहाँ एक साधारण-सी मेज़-कुर्सी थी, वहीं श्रीअरविन्द बैठा करते थे, कभी-कभी वे अख़बारों पर दृष्टि डालते, कभी साधकों से बातचीत करते और विरले अवसरों पर किसी आगन्तुक से मिलते। लेकिन कभी-कभी उनके वहाँ पहुँचने से पहले घर की एक बिल्ली वहाँ आ जाती और उसी कुर्सी पर आराम से पसर जाती मानों वहाँ बैठना उसका अधिकार हो, श्रीअरविन्द के आने पर भी वहाँ से टस से मस न होती। वह शायद सूरज की रोशनी के साथ-साथ श्रीअरविन्द के यौगिक शरीर से विकीरित होती हुई सुखद–स्वर्गिक ऊष्मा का भी सेवन करना चाहती थी। और हमेशा दूसरों का ध्यान रखने वाले गुरुदेव कभी उस आश्वस्त बिल्ली की शान्ति में किसी भी तरह का विघ्न न डालते और उसे छुए बिना, कुर्सी के किनारे पर बड़ी सावधानी से बैठ

जाते! ऐसे थे हमारे श्रीअरविन्द। उनके हृदय में न केवल मनुष्यों के लिए बल्कि पशुओं के लिए भी समान संवेदनशीलता थी।

दया के सागर हमारे प्रभु!

सवेरे के क़रीब ५ बजे थे। मैं रोज़ की तरह श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के पवित्र घर में गया। मेरे ज़िम्मे उस घर के कुछ हिस्से की सफ़ाई का काम था, कितनी कृपा थी उनकी कि मुझे यह काम उन्होंने सौंपा। मैं हर रोज़ उस आह्लादक कार्य की बेसब्री से बाट जोहता। स्वयं श्रीमाँ मेरे लिए दरवाज़ा खोलती थीं!

एक दिन, जैसे ही श्रीमाँ ने दरवाज़ा खोला तो दरवाज़े पर ही उँगली के इशारे से मुझे एकदम चुप रहने को कहा; उन्होंने कहा कि श्रीअरविन्द ने यह ताक़ीद की है कि आज सफ़ाई के समय मैं ज़्यादा सावधान रहूँ क्योंकि बीचवाले बड़े दरवाज़े के ऊपर एक गौरैया आराम कर रही है, मेरी हलचल से कहीं वह चौंक न जाये...। प्रभु के इस आदेश का मुझे अक्षरशः पालन करना था। माँ अन्दर चली गयीं, मैं भी एकदम दबे पाँव अन्दर घुसा। मेरी नज़र अनायास उस दरवाज़े पर पड़ी। मेरे आश्चर्य और प्रसन्नता की सीमा न रही—दरवाज़े के ऊपरी कगार पर कितना शान्त, कितना अचञ्चल बैठा था वह लघु पक्षी...

मेरा रोम-रोम प्रभु के वन्दन में प्रणत हो गया। दया के सागर हैं हमारे प्रभु! वे रोज़ रात को उस बड़े कमरे में टहला करते थे और पिछली रात उन्होंने उस नन्हीं गौरैया को उस शान्तिपूर्ण वातावरण में—जो हमेशा वहाँ व्याप्त रहता है—दरवाज़े पर आराम करते देखा होगा। न केवल हम मनुष्य उनकी करुणा के पात्र थे बल्कि छोटे-बड़े सभी प्राणियों के लिए विश्व से भी महान् उनके हृदय में प्रेम का सागर ठाठें मारता था। हर जीव उस विशाल हृदय में अपना बसेरा पा लेता था। सचमुच धन्य हैं हम, धन्य है हमारी यह पृथ्वी जिसे हमारे प्रभु का निवास-स्थान बनने का अभूतपूर्व सौभाग्य प्राप्त हुआ! कितने सौभाग्यशाली हैं हम जिनके ऊपर प्रभु हमेशा झुके रहते हैं और जिन्हें वे हमेशा अपने प्रेममय हृदय की गहराइयों में स्थायी स्थान देते हैं।

Reminiscences of Pujalal, पृ. ७९, ८०

गुरु की असीम कृपा

जब श्रीअरविन्द कलकत्ते में अपने परिवार के साथ रहते थे तब उनकी छोटी बहन सरोजिनी घर के रसोइये की अकड़ और अशिष्टता के बारे में प्रायः शिकायत किया करती थीं। श्रीअरविन्द सुनते, लेकिन जल्दी ही सब भूल भी जाते! आख़िरकार सरोजिनी अपना धीरज खो बैठीं और उन्होंने श्रीअरविन्द से कड़ा क़दम उठाने को कहा। श्रीअरविन्द ने रसोइये को बुला कर ज़रा गम्भीर स्वर में कहा, "मैंने सुना कि तुमने धृष्टता से व्यवहार किया। आइन्दा ऐसे मत करना!" सभी उनकी इस चरम सीमा की डाँट से बहुत ही निराश हुए और घर का हर एक सदस्य समझ गया कि उनसे इससे ज़्यादा कठोर वचन की उम्मीद रखना नासमझी होगी...! इसी तरह जब एक बार श्रीमाँ ने किसी साधक की शिकायत उनसे की कि आवेश के झटके में उसने किसी को पीट दिया। माँ ने कहा, "ऐसा तीसरी बार हुआ! हमें क्या करना चाहिये? भगवन्! मैं चाहती हूँ कि आप कुछ करें।" श्रीअरविन्द ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया, "उसे अन्तिम चेतावनी दे दी जाये।" हम सब अच्छी तरह जानते थे कि यह अन्तिम चेतावनी सचमुच कभी अन्तिम नहीं हो सकती।

श्रीमाँ की इस टिप्पणी में कितना गभीर आध्यात्मिक सत्य प्रकट हुआ है कि विद्रोह के किसी आवेश में भले शिष्य गुरु को छोड़ दे, लेकिन गुरु उसको नहीं त्यागते। श्रीअरविन्द ने कहा है, "बहुत कम ऐसे हैं जिनसे भागवत कृपा दूर हट जाती है, लेकिन कई ऐसे हैं जो भागवत कृपा को छोड़ बैठते हैं।" मुझे एक शिष्य के बारे में पता है जिसके लिए श्रीअरविन्द ने लिखा था कि वे उसका कभी त्याग नहीं करेंगे, और जब शिष्य ने उन्हें छोड़ दिया तो मैंने श्रीअरविन्द से पूछा, "वह छोड़ कर चला गया, लेकिन आपने तो कहा था कि आप उसे कभी नहीं छोड़ेंगे।" उन्होंने उत्तर दिया, "मेरा उसे छोड़ने का इरादा नहीं था।" केवल तभी जब शिष्य गुरु के साथ विश्वासघात करता है, मेरे अनुमान से वह उन्हें छोड़ देता है, उनकी सुरक्षा से बाहर निकल जाता है। लेकिन फिर भी, 'गुरु' की असीम कृपा के कारण वह उनसे पूरी तरह नहीं कट जाता।

Memorable contacts with the Mother पृ. १०७-०८

कृपा नहीं छोड़ती

वस्तुतः कृपा का क्या अर्थ है? अगर इसका अर्थ गुरु की सार्वभौम करुणा तथा कृपा है तो हम मानते हैं कि वे तो शिष्य पर हमेशा बनी रहती हैं; गुरु का शिष्य को अपना लेना स्वयं कृपा की ही क्रिया है और गुरु की सहायता उसे हमेशा मिलती है, हाँ, बात शिष्य की ग्रहणशीलता की होती है। लेकिन भागवत कृपा शिष्य पर सीधी उतरे या गुरु के द्वारा, एक ऐसी विशेष क्रिया है जिसके दो पहलू होते हैं—एक है, गुरु या भगवान् की कृपा, सचमुच दोनों एक साथ; और दूसरा है, शिष्य के अन्दर "कृपा की अवस्था"। कृपा की इस अवस्था को शिष्य लम्बी तपस्या या आत्म-शुद्धीकरण द्वारा प्राप्त करता है, लेकिन पहले-पहल उसे लगता है कि ठोस रूप से कुछ नहीं हो रहा, बस ज़्यादा से ज़्यादा, गुज़रती हुई अनुभूतियों की कुछ झलकें या हलके स्पर्श प्राप्त होते हैं। और फिर, बिना किसी चेतावनी के, सब कुछ अचानक उतर आता है। अगर रामकृष्ण के कथन में इसी की चर्चा है तो यह सच है कि जब पूर्ण अनुभूति प्राप्त होती है तब मौलिक कठिनाइयाँ एक पल में विलीन हो सकती हैं और सामान्यतः हो भी जाती हैं। या फिर कुछ ऐसा घटित हो जाता है कि साधक साधना-पथ पर निश्चित और आश्वस्त गति से आगे बढ़ता जाता है। यह निर्णायक स्पर्श सबसे अधिक आसानी से उन्हें प्राप्त होता है जो "बिल्ली के बच्चे" जैसी प्रवृत्ति अपनाते हैं, जिनके जीवन के किसी अद्‌भुत क्षण चैत्य तथा भावात्मक प्राण के बीच गुरु या भगवान् के प्रति स्वयं को पूरी तरह निछावर करने की तेज़ तथा निर्णायक गति जाग उठती है। मैंने देखा है कि जब ऐसा होता है तब सचेतन केन्द्रीय सत्ता मन पर और साथ ही बाक़ी प्राण पर भी समर्पण के लिए ज़ोर डालती है और तब मूलभूत कठिनाई विलीन हो जाती है। अगर सत्ता में इधर-उधर कुछ चीज़ें छूट भी जायें तो वे कठिनाई के रूप में नहीं अनुभव की जातीं, बस वे तो ऐसी छोटी-मोटी चीज़ें होती हैं जिन्हें बदलना है और जिनके लिए चिन्ता की कोई बात नहीं होती। कभी-कभी तो तपस्या करने की भी आवश्यकता नहीं होती —साधक बस उस 'शक्ति' को सच्चे मन से पुकारता है, अनुभव करता है कि वही उसका पथ-प्रदर्शन कर रही या वही साधना कर रही है, साधक की क्रिया को स्वीकृति प्रदान कर रही और सभी विपरीत चीज़ों का त्याग

कर रही है; वह 'शक्ति' उन सभी चीज़ों को हटा देती है जिन्हें हटा देना चाहिये और जिन्हें बदलना हो उन्हें देर-सवेर बदल देती है—वैसे देर-सवेर का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि साधक को दृढ़ निश्चय होता है कि वह लक्ष्य तक पहुँचेगा अवश्य। अगर तपस्या की आवश्यकता हो तो वह तपस्या भी करेगा और उसमें ऐसी गहराई तक डूब जायेगा कि तपस्या उसके लिए सहज बन जायेगी।

दूसरों के लिए, जो "बन्दर के बच्चे" की तरह होते हैं, यानी, जो अधिक स्वतन्त्र होते हैं, अपने विचारों का अनुसरण करते, अपनी साधना जारी रखते हैं, बस गुरु से कुछ एक निर्देश या सहायता की माँग करते हैं, उनके लिए भी गुरु की कृपा सदैव रहती है, लेकिन वह साधक की प्रकृति के अनुसार, अर्थात्, न्यूनाधिक रूप से उसके प्रयास की मात्रा के अनुसार क्रिया करती है; निश्चय ही, वह सहायता करती है, कठिनाइयों से उबार लेती है, लेकिन शिष्य बहुत कम ही उसके बारे में सचेतन होता है, क्योंकि वह अपने-आपमें और अपने ही प्रयास में इतना डूबा रहता है कि वह जान ही नहीं पाता कि उसके लिए स्वयं कृपा क्या-क्या कर रही है। ऐसे मामलों में निश्चयात्मक मनोवैज्ञानिक गति, वह स्पर्श जो ऊपर पड़ी सारी धूल को हटा देता है, सम्भव है आने में ज़्यादा समय ले। बहरहाल, कृपा हमेशा उपस्थित रहती है और एक या दूसरे तरीक़े से कार्य करती ही रहती है। वह शिष्य को तभी छोड़ सकती है जब स्वयं शिष्य उसका त्याग कर दे या उसे अस्वीकार कर दे—और शिष्य ऐसा करता है, दृढ़ता के साथ कृपा के प्रति विद्रोह करके, गुरु के प्रति अपना सम्बन्ध काट कर या फिर गुरु के प्रति विश्वासघात करके वह अपनी चैत्य सत्ता से पूरी तरह सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। फिर भी, गुरु उसका साथ तब तक नहीं छोड़ते जब तक कि वह अति न कर दे और कृपा की ओर लौटना असम्भव न बना दे।

CWSA खण्ड २९, पृ. १९५-९६

जब मनुष्य थोड़ा और बुद्धिमान् हो जायेगा तो वह किसी भी विषय में शिकायत नहीं करेगा और भगवान् द्वारा दी गयी वस्तुओं को उनकी सर्व-अनुग्रहपूर्ण कृपा के रूप में स्वीकार करेगा।... —*श्रीमाँ*

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

अगस्त

१. कोई व्यक्ति केवल तभी दुःखी होता है जब वह उदार नहीं होता— यदि किसी के अन्दर ऐसा उदार स्वभाव हो जो बिना हिसाब लगाये अपने-आपको दे देता हो, तो वह कभी दुःखी नहीं होता।

२. जब तुम किसी के साथ हो और निष्कपट हो, तो तुरन्त तुम्हारी प्रतिक्रिया यही होनी चाहिये कि तुम ठीक चीज़ करो, भले तुम जिसके साथ हो वह ठीक चीज़ न भी करे। सबसे सामान्य उदाहरण ले लो : कोई नाराज़ होता है; उसे चोट पहुँचाने वाली बातें कहने की जगह तुम चुप रहते हो, स्थिर और शान्त रहते हो। तुम्हें उसके गुस्से की छूत नहीं लगती।

३. तुम अपने चरित्र में जो विजय प्राप्त करते हो, वह चाहे कितनी ही छोटी क्यों न हो, ऐसी है जो सारे संसार में प्राप्त की जा सकती है।

४. जब तुम सचेतन हो और सहयोग दो और वास्तव में जो करना चाहिये उसे सचेतन रूप से करते चलो तो प्रगति बहुत अधिक तेज़ी से होती है।

५. भय के साथ संकट का सामना करना सबसे बड़ी मूर्खता है। अगर सचमुच संकट है तो केवल साहस की शक्ति के द्वारा ही उसमें से बाहर निकलने का अवसर मिल सकता है।

६. अगर तुम समय-लाभ करना चाहो तो एकाग्र होना सीखो। ध्यान देकर काम करने से ही आदमी तेज़ी से काम कर सकता है और काम ज़्यादा अच्छा भी होता है।

७. अगर हर एक जो कुछ ज़रूरी है वह करे और भरसक अधिक-से-अधिक करे तो एक ऐसी स्थिति तक पहुँच जाना सम्भव है जहाँ से हमेशा ऊपर की ओर ही गति होगी, जहाँ नये सिरे से शुरू करने के लिए कुछ नष्ट करने की ज़रूरत न होगी।

८. दूसरे क्या करते हैं और क्या नहीं करते, इसकी आलोचना करने की जगह तुम्हें स्वयं अपने हृदय को शुद्ध करने के लिए काम करना चाहिये।

९. तुम्हें कभी आशा या श्रद्धा न खोनी चाहिये—कोई चीज़ असाध्य नहीं है और भगवान् की शक्ति पर कोई सीमा नहीं लगायी जा सकती।

१०. औरों की आलोचना करने से पहले ज़्यादा अच्छा है कि यह निश्चित रूप से जान लो कि स्वयं तुम पूरी तरह सच्चे हो।

११. जब कोई गड़बड़ होती है तो तुम्हें हमेशा अपने अन्दर ही उसके कारण ढूँढ़ने चाहियें, छिछले रूप में नहीं, अपने अन्दर गहराई में, और व्यर्थ में अपने दोष पर रोने-धोने के लिए नहीं बल्कि भगवान् की सर्वसमर्थ शक्ति को अपनी सहायता के लिए बुला कर दोष का उपचार करने के लिए।

१२. सच्चा सुख जीवन की बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं रहता। तुम अपनी चैत्य सत्ता को खोज कर और उसके साथ एक होकर ही सच्चा सुख पा सकते और उसे सतत बनाये रख सकते हो।

१३. अपनी दुर्बलताओं के प्रति कभी आसक्ति के साथ तुम्हें आँखें न मूँदनी चाहियें और जब कभी कोई भूल करो, चाहे वह छोटी-सी ही क्यों न हो, तो अपने-आपको पकड़ो।

१४. सामान्य रूप से तुम्हारे अन्दर जो दोष होते हैं वही तुम्हें औरों के अन्दर बहुत चौंकाने वाले लगते हैं।

बाद में, तुम्हारी समझ में आ जाता है कि और लोग ऐसा दर्पण हैं जो, तुम जो कुछ हो उसे ही प्रतिबिम्बित करते हैं।

१५. तुम्हें अपनी ऊर्जाओं को हृदय में केन्द्रित करना चाहिये। जब उसमें सफलता मिल जाये तो नीरवता अपने-आप आ जाती है।

१६. अपने अन्दर अपनी सभी गतिविधियों के मूल को पहचानो—वे जो सत्य के प्रकाश से आती हैं और वे जो पुरानी जड़ता और मिथ्यात्व से आती हैं—ताकि तुम पहली को स्वीकार और दूसरी को अस्वीकार या उनका त्याग कर सको।

१७. निश्चय ही हमें शान्ति और सामञ्जस्य की चाह करनी चाहिये और उसके लिए यथासम्भव अधिक-से-अधिक काम करना चाहिये—लेकिन उसके लिए उत्तम कार्य-क्षेत्र हमेशा हमारे अन्दर होता है।

१८. असामञ्जस्य के बाहरी कारणों की अपेक्षा अधिक खोज करो आन्तरिक कारणों की। अन्तर ही बाह्य पर शासन करता है।

१९. वस्तुतः सभी चीज़ों में छिपी हुई सद्भावना अपने-आपको सभी स्थानों पर उस व्यक्ति के आगे प्रकट करती है जो अपनी चेतना में सद्भावना लिये रहता है।

२०. अगर तुम्हारे अन्दर बलवान् और सचेतन संकल्पशक्ति है और तुम्हारा संकल्प चैत्य पुरुष के इर्द-गिर्द व्यवस्थित है तो तुम स्वाधीनता का रस पा सकते हो। अन्यथा तुम सभी बाहरी प्रभावों के दास रहते हो।

२१. सत्य का प्रकाश जगत् के ऊपर मँडरा रहा है ताकि उसमें व्याप्त होकर भविष्य को गढ़े।

२२. आओ, हम अपने मिथ्यात्व को भगवान् के अर्पण कर दें ताकि वे उसे आनन्दभरे सत्य में बदल दें।

२३. हमें सभी अनिश्चितताओं की चिन्ताओं से मुक्त रहना चाहिये, हमें वस्तुओं के बारे में सभी साधारण दृष्टिकोणों से भी अलग रहना चाहिये।

किसी कठिनाई के बारे में कभी न सोचो—इससे तुम उसे बल देते हो।

२४. जब तुम प्रगति करना चाहते हो तो जिस कठिनाई को जीतना चाहते हो वह तुम्हारी चेतना में महत्त्व और तीव्रता में दसगुना बढ़ जाती है। तुम्हें केवल दृढ़ बने रहना चाहिये। बस, और वह चली जायेगी।

२५. भगवान् हमारे बीच उपस्थित हैं। जब हम हमेशा उन्हें याद रखते हैं तो वे हमें पूरी शान्ति और समता के साथ सभी परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति देते हैं। परम उपस्थिति के बारे में सचेत हो जाओ और तुम्हारी कठिनाइयाँ विलीन हो जायेंगी।

२६. भगवान् के प्रति सतत अभीप्सा में अन्दर जीना, यह चीज़ हमें जीवन को मुस्कान के साथ देखने और शान्त रहने में समर्थ बनाती है—फिर बाहरी परिस्थितियाँ चाहे कैसी भी क्यों न हों।

२७. यह बड़ी अच्छी बात है कि तुम अपने स्वभाव की भूलों और त्रुटियों के बारे में सचेतन हो गये हो। एक बार तुम सचेतन हो जाओ तो यह हमेशा सम्भव होता है कि तुम उनसे बाहर निकल कर अपनी प्रकृति को बदल दो।

२८. हर रात को सोने से पहले तुम्हें प्रार्थना करनी चाहिये कि दिन-भर में की हुई भूलें भविष्य में कभी न दोहरायी जायें।

२९. दुर्भावना, ईर्ष्या, लड़ाई-झगड़ा, बुरा-भला कहना—तुम्हें **सचमुच** इन सब चीज़ों से ऊपर होना चाहिये और कड़वे से कड़वे शब्दों का भी हितैषिता की मुस्कान से उत्तर देना चाहिये। जब तक तुम अपने और अपनी प्रतिक्रियाओं के बारे में पूरी तरह से निश्चित न होओ तो सामान्य नियम के रूप में ज़्यादा अच्छा है कि तुम चुप रहो।

३०. प्रगतिशील सामञ्जस्य की स्थापना में आने वाली मुख्य बाधाओं में से एक है, अपने विरोधी के आगे यह प्रमाणित करने की उत्सुकता कि वह ग़लत है और हम ठीक।

३१. पहले अपने-आपको पूरी तरह जानना सीखो, फिर अपने ऊपर पूरी तरह से नियन्त्रण करो। हर क्षण इसके लिए अभीप्सा करने पर तुम इसे चरितार्थ कर सकोगे। शुरू करने के लिए कभी बहुत जल्दी नहीं होती और जारी रखने के लिए कभी देर नहीं होती।

श्रीमाँ के साथ पत्र-व्यवहार

(श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र की एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र जिसने माताजी को सोलह वर्ष की उम्र में पत्र लिखना शुरू किया था।)

मधुर माँ,

हमें भिखारियों को पैसे देने चाहियें या नहीं?

सुसंगठित समाज में भिखारी होने ही नहीं चाहियें।

लेकिन जब तक वे हैं, तुम्हें जो ठीक लगे वही करो।

देने और न देने दोनों के लिए काफ़ी अच्छे कारण हैं।

आशीर्वाद।

८ जुलाई १९६९

ऐसा कोई भी नहीं है जिसके लिए भगवान् को पाना असम्भव हो।

कुछ लोगों के लिए बहुत-बहुत जन्म लग जायेंगे जब कि ऐसे लोग भी हैं जो इसी जन्म में उन्हें पा लेंगे। यह संकल्प का प्रश्न है। स्वयं तुम्हें चुनाव करना होगा।

लेकिन मैं इतना ज़रूर कहूँगी कि वर्तमान समय में परिस्थितियाँ विशेष रूप से अनुकूल हैं।

आशीर्वाद।

२२ जुलाई १९६९

मधुर माँ,

सचमुच "भगवान् को पाने" का क्या अर्थ है?

इसका अर्थ है अपने अन्दर या आध्यात्मिक शिखरों पर भगवान् के बारे में सचेतन होना और एक बार तुम उनकी उपस्थिति के बारे में सचेतन हो जाओ तो अपने-आपको पूरी तरह उनके अर्पित कर देना ताकि उनकी इच्छा से भिन्न तुम्हारे अन्दर कोई इच्छा न रहे और अन्त में अपनी चेतना को उनकी चेतना के साथ एक कर देना। यह है "भगवान् को पाना"।

आशीर्वाद।

२३ जुलाई १९६९

मधुर माँ,

जब हम सोते हैं तो हमारी चेतना बाहर चली जाती है, है न? लेकिन मैं औरों के स्वप्न में दिखायी देती हूँ। तो होता क्या है? क्या चेतना अपने भाग कर लेती है या औरों के स्वप्न केवल उनकी अपनी कल्पनाएँ होते हैं?

बहुधा प्राणिक चेतना ही शरीर में से बाहर जाती है और वही मनुष्य के शरीर के आकार और रूप-रंग का आभास रखती है। अगर कोई किसी और के बारे में स्वप्न देखता है तो इसका मतलब यह होता है कि दोनों रात को मिले थे और बहुत सम्भव है कि प्राणमय जगत् में मिले हों, लेकिन यह कहीं और भी, सूक्ष्म शरीर में या मन में भी हो सकता है। स्वप्नों में बहुत प्रकार की सम्भावनाएँ हैं।

आशीर्वाद।

१ अगस्त १९६९

मधुर माँ,

रात सूर्योदय से ठीक पहले अधिक-से-अधिक अँधेरी क्यों होती है? वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से?

क्योंकि अँधेरा प्रकाश को आने से रोकने की कोशिश करता है।

आशीर्वाद।

११ अगस्त १९६९

मधुर माँ,

सोने के लिए आधी रात से पहले का समय उसके बाद के समय की अपेक्षा ज्यादा अच्छा क्यों होता है?

क्योंकि प्रतीक रूप से, आधी रात से पहले के घण्टों में सूर्यास्त हो रहा होता है जब कि आधी रात के बाद के पहले घण्टे से ही उसका उदय शुरू हो जाता है।

आशीर्वाद।

२२ अगस्त १९६९

प्रेम केवल एक है, 'भागवत प्रेम', शाश्वत, वैश्व, सब मनुष्यों और सभी वस्तुओं के लिए एकसमान।

मनुष्य ही (मानव सत्ता) सब प्रकार के भावों को, सभी कामनाओं, आकर्षणों, प्राणिक लेन-देन, कामुक सम्बन्धों, आसक्तियों, मित्रताओं और अन्य बहुत-सी चीज़ों को "प्रेम" कहता है।

लेकिन ये सब प्रेम की छाया तक नहीं हैं, उसके विकृत रूप तक नहीं हैं।

ये सब मानसिक, प्राणिक, भावुकतामय या कामुक क्रिया-कलाप हैं, उससे बढ़ कर कुछ नहीं!

आशीर्वाद।

६ सितम्बर १९६९

मधुर माँ,

कामना और अभीप्सा में, स्वार्थ और आत्म-सिद्धि में क्या फ़र्क है?

कामना प्राणिक गति है, जब कि अभीप्सा चैत्य गति है।

अगर व्यक्ति को सच्ची, निःस्वार्थ और निष्कपट अभीप्सा का अनुभव हो जाये तो वह कोई प्रश्न पूछ ही नहीं सकता क्योंकि अभीप्सा का स्पन्दन प्रदीप्त और अचञ्चल होता है, उसका कामना के स्पन्दन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता जो आवेशभरा, अन्धकारभरा और बहुधा उग्र होता है।

स्वार्थ का अर्थ है सब कुछ अपने लिए चाहना, अपने सिवाय और कुछ न समझना। औरों की उसी हद तक परवाह करना जिस हद तक वे तुम्हारे लिए ज़रूरी या महत्त्वपूर्ण हों। फ्रेंच में आत्म-सिद्धि का अर्थ होता है अपनी सत्ता के अन्दर भागवत केन्द्र को पाना। अंग्रेज़ी में साधारणतः आत्म-परिपूर्ति का अर्थ होता है "सफल होना"। श्रीअरविन्द अपने लेखों में "आत्म-सिद्धि" का उपयोग करते हैं आत्मा को पाने या सिद्ध करने के अर्थ में, यानी अपने अन्दर भगवान् के बारे में सचेतन होना और उनके साथ एक हो जाना।

आशीर्वाद।

१४ सितम्बर १९६९

मधुर माँ,

हम अपनी सत्ता को एक कैसे कर सकते हैं?

पहला चरण है, अपने अन्दर गहराई में कामनाओं और आवेशों के पीछे एक ज्योतिर्मयी चेतना को पाना जो हमेशा उपस्थित रहती और भौतिक सत्ता को अभिव्यक्त करती है।

साधारणतः लोग इस चेतना की उपस्थिति के बारे में केवल तभी अभिज्ञ होते हैं जब वे किसी संकट के आमने-सामने हों या उनका किसी अप्रत्याशित घटना या बड़े दुःख से पाला पड़ा हो।

तब तुम्हें उसके साथ सचेतन सम्पर्क में आना और जब मरज़ी हो तब यह कर सकना सीखना चाहिये। बाक़ी सब पीछे-पीछे आ जायेगा।

साधारणतः व्यक्ति इस ज्योतिर्मयी उपस्थिति को सौर चक्र के पीछे हृदय में पाता है।

आशीर्वाद।

२० सितम्बर १९६९

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४५९-६२

बच्चे मन के सच्चे

(५ जून—कनिष्ठाजी के जन्मदिन का उपहार प्रस्तुत है।—सं.)

अक्सर जब मैं लेख लिखने बैठती हूँ तो उसका शीर्षक मुझे सूझता ही नहीं है, कितनी भी माथा-पच्ची क्यों न कर लूँ। पहले रवीन्द्रजी मेरे लिए शीर्षक बिठाया करते थे, और अब वन्दना ने यह बीड़ा उठा लिया है! फिर भी कोशिश तो मेरी तरफ़ से जारी है, बिना किसी फल के!

मगर आज अचानक गंगा मानों उलटी बहने लगी! मैंने पहले शीर्षक लिखा, और फिर उस पर लेख लिखना शुरू किया! इस चमत्कार का कारण? लीजिए सुनिये।

मैं अपनी कलाकृतियों की दूकान में बैठी गर्मी को कोस रही थी कि अचानक दो बच्चे अन्दर घुस आये: फटे-पुराने मैले कपड़े, पतले-दुबले, बैडौल शरीर, तेल और पानी के दुश्मन बने, सूखे-भूरे बाल, और तिस पर नंगे पैर! अब भिखारियों के अलावा वे हो ही क्या सकते थे? मैं हड़बड़ा कर अपनी कुर्सी से उठी, और सख़्ती से बोली, "चलो निकलो दोनों के दोनों! शर्म नहीं आती भीख माँगते हुए? कुछ नहीं मिलेगा यहाँ से तुमलोगों को।" मन ही मन सोच रही थी, "दोपहर के एक बजने को हैं, एक छोटी चीज़ भी नहीं बिकी अब तक, और ग्राहक के बजाय दो-दो भिखारी घुस पड़े हैं! हाय, क्या क़िस्मत है मेरी!" लेकिन उनका जवाब सुन कर मैं दंग रह गयी! एक ने कहा, "दीदी, हम भीख माँगने नहीं आये हैं! आप इतना गुस्सा मत कीजिये, सेहत के लिए ठीक नहीं है!" ढीठ कहीं के, क्या दूकान की मालकिन से बात करने का यह कोई तरीक़ा है भला?! थोड़ी शिक्षा मिली होती, थोड़े संस्कार मिले होते, तो तमीज़ नाम की चीज़ होती इनके पास। मैंने क़दम आगे बढ़ाते हुए, और उँगली से दरवाज़े की ओर इशारा करते हुए कहा, "निकलो, अभी के अभी निकलो दोनों के दोनों!" तब दूसरे ने कहा, "नहीं दीदी, आप ग़लत समझ रही हैं। हम यहाँ लेने नहीं, देने आये हैं! यह हमें आपकी दूकान की देहलीज़ पर पड़ा मिला, तो लगा कि यह शायद आपका है, या फिर आपके किसी ग्राहक का।" यह कह कर उसने सौ रुपये का एक नया कड़क नोट मेरे हाथ में थमा दिया! मैं

कुछ पल दंग-सी रह गयी, फिर बोली, "नहीं, नहीं, यह मेरा नहीं है, न ही किसी ग्राहक का, सुबह से तो यहाँ कोई नहीं आया। यह तुम दोनों ही रख लो..." (मैं कहना चाह रही थी कि इस गर्मी में दोनों आइसक्रीम खरीद कर खा लो), लेकिन ये शब्द मेरे मन से ज़ुबान तक उतर पायें इतने में दोनों जितनी तेज़ी से आये थे, उतनी ही तेज़ी से फुर्र हो गये!... और मैं, वहीं की वहीं खड़ी रही, बुत बन कर, वह सौ रुपये का नोट अपने हाथ में थामे हुए! मुझे लगा था कि वे भिखारी हैं, अशिक्षित हैं, तमीज़ नाम की चीज़ से बेखबर, संस्कारों से पूरी तरह वञ्चित। मगर उन्होंने एक ऐसी अजीबोगरीब परिस्थिति पैदा कर दी थी कि मुझे चुल्लू भर पानी में डूब मरने का अर्थ अब पूरी तरह समझ में आ रहा था! यहाँ शिक्षित तो मैं थी, पूरी दूकान की मालकिन तो मैं थी, अच्छे संस्कार तो मैंने पाये थे, लेकिन फिर भी मुझे यह एहसास क्यों हो रहा था कि आज ग़रीब वे नहीं, मैं हूँ!

सचमुच बच्चे मन के सच्चे होते हैं। हम ज़िन्दगी में कितनी भी सफलता और कीर्ति क्यों न हासिल कर लें, फिर भी नन्हें बच्चे अपनी नादानी और मासूमियत से हमें बहुत कुछ सिखा सकते हैं। बाहरी रंग-रूप से हम किसी के स्वभाव को या उसकी आत्मा को भाँप नहीं सकते हैं। अन्दरूनी सुन्दरता ही वास्तविक सुन्दरता है।

आज की घटना कितनी छोटी-सी थी, कितनी साधारण-सी थी, मगर यकीन मानिये, वह मुझे ज़िन्दगी का एक बहुत ही अहम् और महत्त्वपूर्ण पाठ पढ़ा गयी!

—कनिष्ठा

बैसाख-जेठ का ख़ास फल आम

... हर साल मौसम के गरमाते ही आम्रवृक्ष बौर से लद जाते हैं। स्मृतियों में भी आम की मिठास घुलने लगती है।

अब आम के बौर की सुगन्ध से सब ओर मिठास फैल गयी। मीठी-मीठी महक आम को ख़ास बना रही है। दुनिया की सारी भाषा के 'ख़ास' शब्द को चुन कर आम के पत्ते-पत्ते पर लटका दिया जाये तब भी आम जैसे मीठे, स्वादिष्ट, सुन्दर फल की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

आँगन में खड़े आम के पेड़ की छाया में कितनी ठण्डक लगती है, मानों दादाजी खड़े हों, बापू खड़े हों। उसकी मोटी, नीचे झुकी डाल पर माँ ने अपना आँचल सुखा दिया है। दादी ने एक डाल से दूसरी डाल तक अपनी धोती फैला दी है। बच्चों को समझा दिया, इसे पहन कर पूजा करूँगी। इसे छूना मत।

आम तो वृक्ष के खम्भे से तने ऐसे फैले जैसे बच्चों के लिए सीढ़ियाँ बन गयीं। इत्ता बड़ा झाड़ बच्चों का खिलौना है। चढ़ेंगे, कूदेंगे, लटकेंगे, गिरेंगे, लड़ेंगे और बौर की नन्हीं अमियाँ से लेकर पके आम तक तोड़ते ही रहेंगे। काका के सोने का समय, दादी के मन्दिर जाने का समय, भैया के गुरुजी के आने का समय, बाबा के सन्ध्या-वन्दन का समय, सब याद है पूरे मुहल्ले के बच्चों को। उनकी टोली बनी हुई है—कौन पेड़ पर चढ़ेगा, कौन नीचे रहेगा, कौन सचेत करेगा। किधर से भागेगा। जो पकड़ा जायेगा, मार खायेगा। उसे दो आम ज़्यादा दिये जायेंगे। इस बार के झगड़े रखवाला काका ही सुलझायेगा। जब पके आम में बड़ी-सी गुठली निकल जायेगी तब उसे पत्थर पर घिस-घिस कर पुंगी बना ली जायेगी। ये पुंगियाँ दोपहर भर बाबा, जीजी, अम्मा की नींद हराम करेंगी।

वा... वाह आम! तेरी यादें भी बड़ी ख़ास हैं दोस्त!

वाह प्यारे आम! भैया आम! दादू आम!

—अब बाज़ारवाद का जमाना है। अब तुम आँगन में, बाड़े में, खेत में, बागों में कम और बाज़ारों में, सुन्दर डिब्बों में, 'शोकेस' में अधिक दिखते हो। वे हाथ जो कभी डण्डा, पत्थर मार कर या कभी तुम्हारे पास तक पहुँच अपनी साँसों की गर्मी देकर तुम्हें पकड़ लेते थे, वे अब बाज़ार में बैठ, सुन्दर डिब्बे में सजाकर, तुम्हें बेटी की तरह विदा करते हैं। वे यादें! आम के पेड़ के नीचे टोकरा भर आम बीनते, सूखे पत्तों पर चलने की चरमर को किसी तरह दबाते टोकना उठा भाग जाना। काका का पीछे से चिल्लाते आना—"अरे भकुआओ, कच्चे ही ख़तम कर दोगे तो रस क्या खाओगे? जीजी, बुआ, फूफा की मेज़बानी रस-पूरी के बिना कैसे करेंगे?"

आम में जाली पड़ गयी। अब पकने भी लगे, अब 'गिरान' की अधपकी अमियाँ, आँधी में गिरे आधे कच्चे-पक्के आम लूटने की होड़ लग गयी। बोरी, थैला, टोकना भर चले। खूब खाये, खूब बाँटे, खूब सस्ते बिके—

चवन्नी के सेर भर!

अरे आम! फलता तो तू अब भी उतना ही है पर वे बचपन की यादें आज तुझे आँखों के जल से सींचने को आतुर क्यों हैं? क्यों हैं रे?

बाज़ारवाद और महँगाई के कारण आम की लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आयी। महँगा-सस्ता, छोटा-बड़ा, कलमी, रसभरा, तोतापुरी या हापुस, बनारसी या लँगड़ा, गुलाब या दसहरी, कालू के खेत का या लाला की दुकान का, अपने गाँव का या उसके बाड़े का, अपने शहर का या दूसरे शहर का, घर में हो या यात्रा में, जहाँ दिखेगा आम, वहीं होगा विश्राम। आज भी हमारा आम-प्रेमी दल है जो बाप और दादा की पदवी पाने के बाद भी आम झपट कर और चोरी से भी खाने का साहस कर लेता है। आधी रात में भी कबूल कर लेता है, 'आम खा रहा हूँ'। तो मित्रो, आम तो आम ही है। इसकी ख़ासियत पर सवाल नहीं।

खाइये आम करिये विश्राम
आम के आम गुठलियों के दाम
कर दीजिये न्योछावर महँगाई के नाम।

'शुभ तारिका' से साभार —उर्मि कृष्ण

ज्योति-दयामयि

ले चल, ले चल ज्योति दयामयि!
छाया घोर अँधेरा,
पथ आलोकित तू करती चल
मैं अनुगामी तेरा!
रात अँधेरी, घनीभूत तम
दूर-दूर घर मेरा,
एकमात्र तेरा ही सम्बल पाऊँ
हो सुखद सवेरा!

'मधुसञ्चय' से साभार *–अज्ञात*

जितने दिन ज़िन्दा रहूँ, कुछ सीखता रहूँ

स्वामी रामतीर्थ जिस जहाज़ से यात्रा कर रहे थे, उस पर एक जापानी सज्जन भी थे। अवस्था उनकी ८० वर्ष से ऊपर की होगी। कमज़ोर इतने थे कि उनके हाथ-पैर काँपते रहते थे। आँखें भी कमज़ोर हो चली थीं। एक दिन स्वामीजी ने देखा कि वे सज्जन आँखों पर चश्मा चढ़ाये चीनी भाषा के किसी पाठ को दोहराने की ग़रज़ से लिख रहे थे। हाथ काँप रहे थे, नेत्र-ज्योति की कमज़ोरी भी परेशान कर रही थी। स्वामीजी ने विस्मित होकर पूछा, "क्या कर रहे हैं बाबा, आप इतनी तन्मयता से!" वृद्ध सज्जन काँपते हाथों से लिखी उस लिखावट के कागज़ को सँभालते हुए बोले, "चीनी भाषा सीखने का मन हो आया था इसलिए उसका अभ्यास बढ़ाने के मक़सद से नकल कर रहा था, ताकि चीनी लिखने की आदत बने।" स्वामीजी ने कहा, "पर बाबा, सुना है कि चीनी भाषा तो अन्य भाषाओं की अपेक्षा बहुत कठिन है। फिर भी आप!" वृद्ध बोले, "हाँ, कठिन तो है चीनी भाषा। पर कठिन है इसलिए हम उसे नहीं पढ़ें, यह दृष्टि रखना तो ठीक नहीं रहेगा न!" स्वामीजी ने फिर प्रश्न किया, "परन्तु बाबा! उस कठिन भाषा को आपको सीखने में तो कई वर्ष लग जायेंगे, फिर आपका तो स्वास्थ्य भी साथ नहीं दे रहा है।" वृद्ध ने मुस्कुरा कर कहा, "हाँ, आपका सोचना ठीक है, पर शरीर और स्वास्थ्य अपना-अपना धर्म-निर्वाह कर रहे हैं और मैं अपना।" उन्होंने उसी गति से लिखते-लिखते यह प्रश्न उछाल डाला, "तो आपकी राय है कि मैं इसी समय चीनी भाषा सीखना बन्द कर दूँ?" "नहीं। ऐसा परामर्श तो मैं आपको नहीं दे सकता। परन्तु उत्सुक अवश्य हूँ कि किस प्रेरणा से अभिभूत होकर आप यह सब कर रहे हैं", स्वामीजी बोले। वृद्ध सज्जन ने कागज़ की तह करके रखते हुए कहा, "जब तक मैं ज़िन्दा हूँ, तब तक कुछ-न-कुछ नया सीखते ही रहने की मेरी इच्छा है। यदि नया सीखना जीवन का लक्ष्य नहीं रहा तो फिर व्यर्थ ही जीना है।" इस पर स्वामीजी बोले, "पर आपकी अवस्था सीखने के लिए शायद उपयुक्त नहीं है।" वृद्ध ज़रा गम्भीर होकर बोले, "अरे, मरना तो एक दिन है ही। यह बात तो जब मनुष्य पैदा होता है तभी निश्चित और अवश्यम्भावी होती ही है। अगर मरने से इसी तरह डरते रहा जाये

तो मनुष्य जीवन में कोई भी काम कभी नहीं कर पायेगा। वास्तव में यह जीवन है क्या? जीवन तो है एक अनन्त-अबाध प्रवाह। सतत बहती जीवनधारा के बीच हर पल नया ज्ञान-विज्ञान, नया चिन्तन सीखने का अवसर यदि मिले तो उसे छोड़ना नहीं चाहिये," और तभी स्वामीजी को रामकृष्ण परमहंस का, "जितने दिन ज़िन्दा रहूँ, कुछ सीखता रहूँ" याद हो आया। जीवन के अनन्त प्रवाह में ज्ञानार्जन के लिए छटपटाते उन वृद्ध को प्रणाम कर स्वामीजी बोले—"धन्य है बाबा, कुछ-न-कुछ सीखते रहने की आपकी सतत अभिलाषा।"

—'हिन्दू सभा-वार्ता' से

सम्पादक जी

हर एक उभरता हुआ लेखक अपने उस प्रधान शत्रु से बेहद घबराता है जिसे कहते हैं "अस्वीकृति-पत्र"... यानी उसकी रचना सम्पादक महोदय के द्वारा अगर स्वीकृत नहीं हुई! 'महानुभाव सम्पादक-वर्ग और बेचारा लेखक...।'

वैसे सम्पादकों के कई वर्ग होते हैं—कुछ मुँहफट, कुछ सभ्य-शिष्ट तो कुछ मौनी-बाबा, यानी निरुत्तर—न रचना छापी, न लेखक को वापिस ही भेजी। लेकिन चीन की एक पत्रिका के सम्पादक जी की लेखक को भेजी इस टिप्पणी पर ग़ौर फरमायें।

"हमने असीम आनन्द के साथ आपके लेख की पाण्डुलिपि पढ़ी। अगर हम आपका लेख अपनी पत्रिका में छाप दें तो इसके बाद ऐसा कोई भी लेख छापना हमारे लिए असम्भव हो जायेगा जो आपके इस अद्‌भुत लेख के सामने उन्नीस ठहरे! और हमें यह बात स्फटिक की तरह साफ़-साफ़ दिखलायी दे रही है कि अगले एक हज़ार वर्षों में तो इतनी उच्च कोटि का लेख पाना मुमकिन नहीं; अतः हम बड़े ही दुःख और खेद के साथ आपकी यह प्रायः दिव्य रचना लौटाने के लिए विवश हो रहे हैं। हम आपसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हैं और आशा रखते हैं कि हमारी इस अदूरदृष्टि और कायरता को आप क्षमा कर देंगे।"

बच्चा और भगवान्

अकेला बच्चा/हो रहा था 'बोर'
मैंने उसके सामने
तितली का चित्र बनाया
दौड़ने लगा बच्चा/तितली के पीछे।
मैंने फूल का चित्र बनाया
ख़ुशबू से भर गया बच्चा,
मैंने नदी बनायी चित्र में
'छपाक-छपाक' नहाने लगा बच्चा,
मैंने बच्चे को धूप दिखायी
धूप को मुट्ठी में
पकड़ने लगा बच्चा
फिर मैंने काग़ज़ पर
तारों का चित्र बनाया
खिलखिलाने लगा बच्चा
ताली बजा-बजा कर!
अब मैंने बच्चे से पूछा,
'क्या तुम भगवान् से मिलोगे?'
हँस कर बोल उठा वह, 'ज़रूर-ज़रूर'
मैंने बच्चे का ही
चित्र बना दिया काग़ज़ पर
बच्चे ने/आश्चर्य से पूछा,
'अरे, यह तो मेरा ही चित्र है?'
मैंने कहा, 'हाँ बेटे, भगवान् बिलकुल
तुम्हारे जैसा ही तो है।'
सचमुच/भगवान् से मिल कर
बहुत ख़ुश था बच्चा
नयी चमक से भर उठी थीं, उसकी भोली आँखें।

'वीणा' से साभार

—पुष्पारानी गर्ग

उषा से पहले का अन्धकार

तुम्हारी कठिनाइयों की चरम तीव्रता का कारण यह है कि योग ने निश्चेतना की आधारशिला पर आक्रमण कर दिया है और यह निश्चेतना ही आत्मा की विजय में तथा उस विजय की प्राप्ति कराने वाले भगवत्कर्म में आने वाली समस्त व्यक्तिगत एवं विश्वगत बाधाओं का मुख्य आधार है। कठिनाइयाँ आश्रम में तथा बाहर की दुनिया में एकसमान हैं। सन्देह, निरुत्साह, श्रद्धा का ह्रास या लोप, आदर्श के लिए प्राणिक उत्साह की न्यूनता, भविष्य के सम्बन्ध में परेशानी एवं निराशा इत्यादि इस कठिनाई के मोटे-मोटे लक्षण हैं। बाहर की दुनिया में इनसे भी बहुत अधिक बुरे लक्षण उपस्थित हैं, जैसे हृदयहीनता की सामान्य वृद्धि, किसी भी चीज़ में विश्वास करने से इन्कार, ईमानदारी की कमी, अपरिमित भ्रष्टाचार, अधिक ऊँची चीज़ों का सर्वथा बहिष्कार करके मुख्यतः भोजन, धन, सुख और भोग में ही व्यस्त रहना, संसार में बुरी-से-बुरी अवस्थाओं के घटित होने की सामान्य आशा। ये सभी, चाहे ये कितनी भी प्रबल क्यों न हों, अस्थायी चीज़ें हैं और जो लोग विश्वशक्ति की क्रिया-शैलियों तथा परम आत्मा की क्रिया-शैलियों के सम्बन्ध में कुछ भी जानते हैं वे इनके लिए तैयार थे। स्वयं मैंने यह पहले से ही देख लिया था कि यह अत्यन्त बुरी अवस्था होगी, उषा से पहले निशा का अन्धकार दिखायी देगा। इसलिए मैं निरुत्साहित नहीं हुआ हूँ। मुझे पता है कि अन्धकार के पीछे क्या तैयार हो रहा है और मैं उसके आने के पूर्वचिह्न देख तथा अनुभव कर सकता हूँ। जो भगवान् को पाना चाहते हैं उन्हें डटे रहना होगा और अपनी खोज में निरन्तर लगे रहना होगा। कुछ समय बाद अँधेरा कम होकर दूर होने लगेगा और दिव्य प्रकाश आ जायेगा।

*

अन्धकार के बीच में अडिग बने रहो; प्रकाश विद्यमान है और उसकी विजय अवश्य होगी।

–श्रीअरविन्द अपने विषय में

सर्वकरुणामयी दृष्टि

करुणा-विशेषांक के लिए उपयुक्त कथा—

कुरुक्षेत्र की उस रणभूमि में जहाँ कौरव-पाण्डवों की सेनाएँ युद्ध के लिए एकत्र हुई थीं टिटिहरी पक्षी ने वहाँ अण्डे दे रखे थे। यह पक्षी किसी निर्जन स्थान में जाकर नहीं बल्कि भूमि पर, रेत में अथवा घास पर यों ही अण्डे धर देता है। कोई पक्षी, पशु या मनुष्य इसके अण्डों के समीप पहुँचे तो चिल्ला-चिल्ला कर आसमान सिर पर उठा देता है। अपने अण्डों के ऊपर ही मँडराता रहता है और कौओं पर तो आक्रमण कर उन्हें भगा देता है।

इतनी विशाल सेनाएँ एकत्र हुईं। असंख्य गज, अश्व, पैदल, रथ आये। इनके कर्णभेदी कोलाहल में दो पक्षी भी व्याकुल चिल्लाते उड़ रहे थे, लेकिन इनकी ओर किसी का भी ध्यान भला क्यों जाता? यही दैव की कम कृपा नहीं थी क्या, कि अब तक उनके अण्डे किसी प्राणी के पैरों के अथवा किसी पहिये के नीचे आकर फूट नहीं गये थे। उस मिट्टी के रंग से मिलते कुछ भूरे अण्डों को देखने का अवकाश किसे था भला! वे मनुष्य के पैरों के नीचे आ भी जाते तो वहाँ उनके लिए पश्चात्ताप करने वाला कोई न था। जहाँ लोग स्वयं ही मरने या मारने आये हैं, वहाँ इतनी तुच्छ बातों पर ध्यान नहीं दिया जा सकता।

मनुष्य अपनी चिन्ता में, अपने गर्व में भले नन्हें प्राणियों की उपेक्षा कर दे किन्तु उन प्राणियों में भी तो अपने अण्डे, अपने शिशुओं का उतना ही मोह, उतनी ही प्रियता होती है जितनी मनुष्य में अपने तथा अपनों के प्रति। किसी सम्राट् के लिए अपना पुत्र युवराज जितना ममतास्पद तथा महत्त्वपूर्ण है, किसी पक्षी के लिए अपने अण्डे उससे कम प्रिय तथा महत्त्वपूर्ण तो नहीं हैं।

टिटिहरी का वह जोड़ा—बहुत अल्प शक्तिवाला, दुर्बल पक्षी—इतनी बड़ी भीड़-भाड़ में व्याकुल चिल्लाता इधर-से-उधर उड़ता चला जा रहा था। सेनाएँ व्यूहबद्ध खड़ी हो गयीं। शंखों और वाद्यों का गगनभेदी निनाद गूँजने लगा तो दोनों पक्षी भय के कारण दूर, बहुत दूर चले गये, किन्तु उनके अण्डे—यह मोह उन्हें कहीं बैठने नहीं दे रहा था! वे फिर लौटे तो वहाँ थोड़ी शान्ति हो गयी थी। अर्जुन का नन्दिघोष-रथ दोनों सेनाओं के

मध्य खड़ा हो गया था और उसके नव-जलधर सुन्दर सारथि श्रीकृष्ण अपने सखा से कुछ कह रहे थे। पक्षियों को अपने अण्डों के समीप उतरने का एक बार, और सम्भवतः, अन्तिम बार अवकाश मिला। और उन प्राणिनाथ को देखते ही उन दोनों के हृदय में भगवद्-स्मृति जाग उठी। सभी प्राणी विपत्ति-काल में उन करुणाकर को ही आर्त होकर पुकारते हैं। वे दोनों पक्षी भी उस वानरध्वज-रथ के ऊपर मँडराते हुए प्रार्थना में बोल उठे—"बचा लो! हे सर्वाधार! सर्वाश्रय! अनाथनाथ! अशरणशरण! हम अनाथ, असहाय पक्षियों के अण्डों को बचा लो! उनकी रक्षा कर लो कृपासिन्धु! तुम्हीं, केवल तुम्हीं इस विपत्ति के महादानव से इन निश्चेष्ट, निरुपाय, सुकुमार अण्डों की रक्षा कर सकते हो।"

पक्षियों ने नन्दिघोष-रथ की परिक्रमा की और प्राण-भय से भाग गये। उन्हें युद्ध के पूरे अठारह दिन फिर वहाँ लौटने का अवसर तो मिलना नहीं था। हाँ, कभी-कभी रात के अँधेरे में शान्तिकाल के समय दोनों पक्षी वहाँ अण्डों के आकर्षण से खिंचे चले आते, लेकिन उन हज़ारों क्षत-विक्षत शरीरों के बीच अपने प्राणों से प्रिय अण्डों के भाग्य का उन्हें क्या पता लग सकता था? असम्भव! और उन दोनों पक्षियों के अन्दर का यह सन्देह भी बार-बार सिर उठा रहा था कि विपत्ति के ऐसे घोर काल में जब श्रीकृष्ण के कन्धों पर अपने प्राणप्रिय सखा और अन्य सभी आश्रितों के जीवन का सम्पूर्ण दायित्व है, जहाँ चारों तरफ़ कोलाहल का समुद्र ठाठें मार रहा है हम जैसे तुच्छ प्राणियों की प्रार्थना उन जनार्दन के कानों तक पहुँच भी पायी या अनसुनी ही रह गयी? लेकिन जो सर्वाधार, सर्वपालक है उसके लिए कौन क्षुद्र है और कौन महान्? जिसके हृदय से सच्ची प्रार्थना फूट पड़ती है वही वासुदेव के लिए कर्तव्य-कर्म बन जाता है। और वह सर्वपालक जिस सावधानी से अर्जुन की रक्षा कर रहा था, उसके रथ और युद्ध का सञ्चालन जिस निपुणता से कर रहा था, पक्षियों का करुण क्रन्दन सुन उतनी ही सतर्कता के साथ उसके कान चौकन्ने हो उठे। बस एक बार दृष्टि उठा कर उसने क्षण-भर के लिए उन पक्षियों की ओर देख भर लिया। सर्वकरुणामयी इस दृष्टि के लिए तो तपस्वी महान् तपस्या करते हैं। यह दृष्टि तो जीव को अनन्त आश्वासन प्रदान करती है। विपत्ति का मारा कोई प्राणी उस परम आश्रय की टेर लगाये और वह न सुने तब तो

इस धरती का संहार हो जायेगा। और फिर न केवल इस पृथ्वी पर बल्कि आकाश-पाताल में भी ऐसा कोई कोना नहीं जहाँ उस सर्वसमर्थ के सुदीर्घ बाहु सहायता के लिए पहुँच न पायें।

युद्ध प्रारम्भ हो गया। अर्जुन का धनुष मृत्युवर्षा कर रहा था। श्रीकृष्ण के नेत्र और कर युद्धकार्य में अत्यन्त व्यस्त थे। सहसा भगदत्त का महागज सम्मुख दौड़ता दीख पड़ा। जनार्दन ने कहा—"अर्जुन सावधान! गज के कण्ठ में लटकती स्वर्ण-शृंखला को लक्ष्य करो ताकि उससे जुड़ा स्वर्ण-घण्टा पृथ्वी पर आ गिरे।"

सव्यसाची के लिए अपने सखा का आदेश पर्याप्त था। उस समय 'क्यों' पूछने का अवसर भी न था। गाण्डीव से तत्काल बाण छूटा और शृंखला के कटने से बड़ा-सा घण्टा कट कर धम्म से भूमि पर आ पड़ा। उस विशाल स्वर्ण-घण्टे के नीचे पक्षियों के अण्डे सुरक्षित हो गये। जो शावकों की जान बचाने के लिए इतनी व्यवस्था कर सकता है उसके लिए यह कौन-सा कठिन काम है कि युद्ध के उपरान्त अण्डे फोड़ कर शावक बाहर निकल आयें और तभी किसी पशु की ठोकर से वह घण्टा हट जाये और उसी समय पक्षी आकर अपने शावकों को सम्भाल लें।

पालनकर्ता इतना सावधान है तो फिर शरणार्थी के हृदय में भय और चिन्ता का वास कहाँ?

'पुरोधा' जून २००८ से —वन्दना

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

जब जब होइ धरम कै हानी
बाढ़हिं असुर-अधम-अभिमानी।
तब-तब प्रभु धरि विविध शरीरा
हरहिं कृपानिधि सज्जन-पीरा।।

SRI AUROBINDO SOCIETY

Notice for the Annual General Meeting

The Annual General Meeting of the members of Sri Aurobindo Society will be held on Saturday, the 16th September 2017, at 4.00 p.m. at its registered office, Sri Aurobindo Bhavan, 8, Shakespeare Sarani, Kolkata – 700 071, to transact the following business:

1. To confirm the minutes of the last Annual General Meeting held on 24th September 2016.
2. To consider and approve the audited Balance Sheet and Income & Expenditure Account of the Society for the year ended 31.03.2017.
3. To consider and adopt the Executive Committee's Annual Report of Activities for the year 2016 – 2017.
4. To appoint an auditor for the Society for the year 2017-2018.
5. To consider any other matter with the permission of the chair.

Sd/-

29.05.2017 (Pradeep Narang)

Puducherry Chairman

Note: The members are entitled to appoint proxy. Proxies must be deposited at the Registered Office of the Society, No.8, Shakespeare Sarani, Kolkata – 700 071, during office hours, in advance but not less than 48 hours before the time of the meeting. The proxy should be a member of the Society. Proxy form is printed below.

PROXY

SRI AUROBINDO SOCIETY,

Regd. Office: 8, Shakespeare Sarani, Kolkata – 700 071.

I, ……. being a member of Sri Aurobindo Society, having membership No. …….. valid upto ……... do hereby appoint …… having Society's membership No. …… valid upto …… as my proxy in my absence to attend and vote for me and on my behalf at the Annual General Meeting of the Society, to be held on Saturday, the 16th September 2017, at 4.00 p.m. and at any adjournment thereof.

In witness whereof, I have set my hand this ……..... day of .....……. 2017.

Revenue Stamp

(Signature of the member across the stamp)

Note: The proxy must be deposited at the Registered Office of the Society, No.8, Shakespeare Sarani, Kolkatta – 700 071, not less than 48 hours before the time of the meeting.

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Date of Publication: 1st August 2017
Rs. 15.00 (Monthly) Registered: SSP/PY/47/2015-2017
RNI No.18135/70 WPP No.TN/PMG/(CCR)/WPP-472/15-17

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2017-18

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363